वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी

GI7932

491.4309
152P2

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

491.4309

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली
NEHRU MEMORIAL MUSEUM & LIBRARY
TEEN MURTI HOUSE, NEW DELHI.

क्रामक ग्रंक/Call No. P152ब्द P01 152P2

परिग्रहण क्रमांक/Acc. No. GI-7932

यह पुस्तक नीचे लिखी ग्रन्तिम तिथि को ग्रथवा उससे पहले वापस की जानी चाहिए।

This book should be returned on or before the date last stamped below.

30 DEC 2003

GI7932

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य
में
हिन्दी

सामयिक चर्चा - 4

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी

नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय
2002

© नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, 2002

491.4309
152P2

P152v2P01
152P2

प्रथम संस्करण : 2002

नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली - 110011

Nehru Memorial Museum
and Library

Acc. No. CI 7932
Date 23 SEP 2002

ISBN : 81-87614-11-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का प्रतिलिपिकरण, ऐसे यंत्र में भंडारण जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो या स्थानान्तरण, किसी भी रूप में या किसी भी विधि से - इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपी, रिकॉर्डिंग या किसी और ढंग से - प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता।

मूल्य : 300/- रुपये

भारत में मुद्रित
प्रोडक्शन : न्यूटेक फोटोलिथोग्राफर्स, C-74, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-1, नई दिल्ली-110020

विषय-सूची

प्राक्कथन vii

अध्यक्षीय भाषण ix
वाई. लक्ष्मी प्रसाद

1. वैश्वीकरण और हिन्दी 1
कृष्ण कुमार

2. वैश्वीकरण के रूबरू हिन्दी: चुनौती और अवसर 13
लाल बहादुर वर्मा

3. इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तथा हिन्दी 27
रजत शर्मा

4. प्रिंट मीडिया में हिन्दी 37
आलोक मेहता

5. वैश्वीकरण: भाषा और मीडिया 41
मधुकर उपाध्याय

6. समाज विज्ञान और हिन्दी 55
आनन्द कुमार

7. वैश्वीकरण, हिन्दी समाज की जड़ता और समाज विज्ञान 65
पंकज बिष्ट

8. सूचना क्रांति में मशीन अनुवाद की भूमिका 77
हेमंत दरबारी

9. विश्व बाज़ार और हिन्दी 85
विजय कुमार गुप्त

10. विश्व बाज़ार और हिन्दी 97
राजेश्वर गंगवार

11. विदेशों में हिन्दी: वैश्वीकरण का परिप्रेक्ष्य 109
विमलेश कांति वर्मा

12. विदेशों में हिन्दी 119
तेजी सकाता

13. विदेशों में हिन्दी 125
असगर वजाहत

14. परिचर्चा 129

प्राक्कथन

प्रगति चाहे देश की हो या समुदाय की, उसमें भाषा की अहम भूमिका होती है। भाषा न सिर्फ ज्ञान बल्कि विश्व में किसी भी देश की उन्नति एवं प्रगति की भी द्योतक है। इस दृष्टि से वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में जब हम हिन्दी की स्थिति, गति या भूमिका पर विचार करते हैं तो अनेक प्रश्नों और जिज्ञासाओं का उठना स्वाभाविक है। इनमें से कुछ अवश्य ही अनुत्तरित हैं। कुछ विवादों के दायरे में कैद हैं और कुछ निश्चित रूप से मार्गनिर्देशक बन जाते हैं।

हिन्दी को भौगोलिक सीमाओं से निकाल कर, उसे हम विश्व पटल पर रख कर उदारता से देखें तो पाएंगें कि हिन्दी किसी भी मायने में कम नहीं और विश्व की कई भाषाओं और बोलियों के लुप्त होने के बावजूद हिन्दी पर कोई खतरा नहीं। बल्कि आज के परिप्रेक्ष्य में उसके और सशक्त होने की संभावना है। हाल ही में यूनेस्को द्वारा प्रकाशित ऐटलस ऑफ दि लैंग्वेजेज इन डेंजर ऑफ डिसअपिअरिंग में लेखक स्टीफन वूर्म ने भी इस बात की पुष्टि की है। उनके अनुसार :-

In the Indian subcontinent, relatively few languages are in danger of disappearing in spite of the multiplicity of languages there. The reason for their active maintenance is the presence of very widespread egalitarian bi- and multilingualism there. The languages which do appear to be in danger of disappearing are tribal and other relatively small languages which are losing speakers to the various large lingua franca in the Indian subcontinent. (भारतीय उपमहाद्वीप में कई भाषाओं की मौजूदगी के बावजूद अपेक्षाकृत कुछ ही भाषाओं के लुप्त होने की आशंका है। इसका कारण यहां भाषाओं के प्रति समानतावादी दृष्टिकोण रखने वाले द्विभाषीय और बहुभाषीय लोगों की उपस्थिति है। जिन भाषाओं के लुप्त होने की आशंका है वे जनजातीय और दूसरी अन्य बोलियां हैं जिनको बोलने वाले लोगों का रूझान भारतीय उपमहाद्वीप की दूसरी बड़ी और प्रमुख बोलियों की ओर होता जा रहा है।)

इन बातों को ध्यान में रखते हुए तीन मूर्ति भवन में हमने एक संगोष्ठी वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी की परिकल्पना की जिसमें विश्व बाजार में हिन्दी की गति से लेकर विदेशों में हिन्दी की स्थिति और उसकी विकास यात्रा पर वृहद परिचर्चा हुई।

यह ग्रंथ इन्ही आलेखों और परिचर्चाओं का संकलन है। इसके लिए मैं उन सभी प्रबुद्धजनों का आभारी हूं जिन्होंने इस संगोष्ठी को न सिर्फ सफल बनाने में अपना सहयोग दिया बल्कि वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी की अस्मिता को रेखांकित और गौरवान्वित किया।

जुलाई, 2002 ओम प्रकाश केजरीवाल

अध्यक्षीय भाषण*

आदरणीय भीष्म साहनीजी, केजरीवालजी, देवियों और सज्जनों, मैं आंध्र प्रदेश का रहने वाला हूं, मेरी मातृभाषा तेलगू है। संसदीय राजभाषा समिति का उपाध्यक्ष होने के नाते मैंने समझा कि औपचारिक रूप से केजरीवालजी इस सेमीनार की अध्यक्षता करने के लिए मुझे बुला रहे हैं, दिल्ली में हूं, एक दिन संसद का काम छोड़ने पर भी देश पर कुछ गिरने वाला नहीं है, यहां बुजुर्ग साहित्यकार मित्रों से मिल सकता हूं, इसलिए मैंने हां कह दिया और औपचारिक रूप से 6-7 पृष्ठों का एक परिपत्र भी तैयार किया, लेकिन यहां आने के बाद आप सभी विद्वानो, हिन्दी प्रेमियों और हिन्दी सेवियों के बीच में अपने को पाकर पिछले 25-30 सालों से मेरे दिमाग में, मेरे मन में जो भावनाएं उभर रही है उन्हे आपके साथ बांटना चाहता हूं।

वैश्वीकरण के कारण हिन्दी को होने वाले प्रमाद या आतंक या किसी भी नुकसान पर हमें ज्यादा दृष्टि डालनी है, परन्तु हिन्दी के लिए चाहे वह राजभाषा के रूप में हो, चाहे वह राष्ट्रभाषा के रूप में हो, या हमारे देश की सम्पर्क भाषा के रूप में हो, उसके स्थान को, उसके गौरव को, उसकी गरिमा को बढ़ाने वाले कौन हैं और उसको नष्ट करने वाले कौन हैं, पहलें हमें यह पहचानना है। बीमारी को पहचानना है और बीमारी कहां से फैल रही है, इसको पहचानना है, तभी इस रोग का निदान हो सकता है।

जब मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना हुई थी तो महात्मा गांधीजी ने अपने पुत्र देवदास गांधीजी को सर्वप्रथम हिन्दी प्रचारक के रूप में वहां भेजा। दक्षिण के राज्यों में बहुत से अनपढ़ किसान, गांवों में रहने वाले लोग, जो कभी स्कूल भी नहीं गए हैं, उन्होंने भी आश्रमों के माध्यम से हिन्दी प्रचार और प्रसार को राष्ट्रीयता की भावना से रात के समय में भी उसे पढ़ा और अध्ययन किया। देवदास गांधीजी दो साल वहां के स्थानीय हिन्दी प्रेमियों को प्रचारक के रूप में ट्रेनिंग देकर वापिस आए। उनकी प्रेरणा से बहुत

---

*श्री वाई. लक्ष्मी प्रसाद, सांसद, भूतपूर्व उपाध्यक्ष, संसदीय राजभाषा समिति

से लोगों ने हिन्दी का अध्ययन किया और हिन्दी में रचनाएं भी छापीं। आप सब जानते हैं कि हिन्दी का *चन्दामामा* कितना प्रचलित है। हिन्दी *चन्दामामा* के व्यवस्थापक सम्पादक, स्वर्गीय बैरागी, की दो पंक्तियां है: "मानवता है यहां कहां, अरे यह गूंगे पशुओं की जमात है, हां, सज-धज कर कहीं जा रही, जिन्दा लाशों की बारात है"। उन्होने 1950 में ये पंक्तियां लिखीं। उनके शिष्य मेरे गुरूजी हैं।

वह आंध्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यक्ष हैं। उनकी रचना से एक-दो पंक्तियां उद्धरित हैं "पंख लगा दो बाहों में, उड़ जाऊं मैं नील गगन में, लेकर तुझ को प्राणों में। स्वर गंगा के अमीय धार में, स्वर्णतरी पर सो जाएंगे, नंदन वन के कुसुम कुंज में परवश होकर सो जाएंगे"। ऐसे अनेक केरल में, तमिलनाडु में, कर्नाटक में बहुत से मूर्धन्य हिन्दी साहित्यकार, हिन्दी में लेखन का काम करते रहे हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात है, उनकी किताबों को छापने वाले विंध्याचल के पार कोई नहीं है, पढ़ने वाले नहीं हैं, छपी तो भी पड़ी हैं और वहां आंध्र प्रदेश में, तमिलनाडु में, केरल में, कर्नाटक में उनके घर के बगल में रहने वाले नहीं जानते हैं कि ये क्या करते हैं। तो धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का। हिन्दी साहित्य के इतिहास के इतने ग्रंथ आए हैं लेकिन हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में दक्षिण के योगदान का कहीं जिक्र नहीं।

मैं 1985 में हमारे एक सांसद मित्र के घर आया, वहां से स्कूटर लेकर भीष्म साहनीजी के घर जाकर, मैंने दण्डवत किया और कहा कि मैं आपके *तमस* का अनुवाद करना चाहता हूं, इन्होने तुरंत मुझे अनुमति दे दी। इसके दो-तीन महीने के बाद जिस संस्था के वे अखिल भारतीय अध्यक्ष हैं, उस संस्था की आंध्र प्रदेश शाखा ने उनसे मांगा कि आप अनुवाद करेंगे, हम छापेंगे। इन्होने कहा कि नहीं, आंध्र प्रदेश से लक्ष्मी प्रसाद नामक एक अध्यापक आया है मैंने दो महीने पहले उनको अनुमति दे दी है, इसको हम वापिस नहीं लेंगे, यह है इनकी महानता।

साहित्य क्षेत्र में दक्षिण के हिन्दी साहित्यकार जो हैं, उनके नाम-निशान यहां नहीं है, तो कैसे हिन्दी का प्रचार हो सकता है। सरकार के क्षेत्र में हिन्दी प्रशिक्षण कार्यक्रम के अंतरगत कुछ नौकरियां हैं, वे उत्तर भारत से या कहीं

से भेज रहे हैं, अध्यापकों को और वे लोग समझ रहे हैं कि हिन्दी इन लोगों के माध्यम से हमारे ऊपर थोपी जा रही है। मैं हमेशा यही कहता हूं हिन्दी कभी नहीं थोपी जाती है, हिन्दी को चन्दन के समान लगाना, माथे पर टीका के समान लगाना है। टीका की पवित्रता और चन्दन की पवित्रता हिन्दी के प्रचार और प्रसार में रहनी चाहिए।

हिन्दी को खतम करने वाले हिन्दी मातृभाषी आई.ए.एस. और आई.पी.एस. अधिकारी, जो हिन्दी राज्य सरकारों में और दिल्ली में काम करते हैं, वे हैं। माता के प्रति अपमान करने वाले हैं। मैं सांसद होने के बाद संसदीय राजभाषा समिति का सदस्य बना, तदपश्चात उपाध्यक्ष बना। मैं पांच सालों से देख रहा हूं, हिन्दी "क" क्षेत्र में हैं दिल्ली, बिहार, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश। मेरी मातृभाषा हिन्दी है, मैं यहां का आई.ए.एस. अफसर हूं, बिहार के राज्य कार्यालय में जो भी आई.ए.एस. अधिकारी हैं, राज्य सरकार को हिन्दी में पत्र लिखने में मुझे क्या आपत्ति हैं, लेकिन हिन्दी में नहीं लिखते, अंग्रेज़ी में लिखते हैं। हमारे पास आंकड़े हैं, हमारे कार्यालय में। दक्षिण में यह काम हो रहा है, अहिन्दी क्षेत्र में काम हो रहा है, क्योंकि उनको कुछ भय है और कुछ भक्ति है, लेकिन यहां 80 प्रतिशत अधिकारी हैं जो हिन्दी में काम करने के लिए तैयार नहीं हैं। हिन्दी में काम करना अपमान समझते हैं। राष्ट्रपतिजी के आदेश हैं, भारत सरकार के आदेश हैं, फिर भी ये काम नहीं करते। सभी लोगों को मैं दोषी नहीं मानता।

अभी-अभी केजरीवाल साहब ने कहा है, भाषा को कुछ व्यापक बनाना है, कुछ अन्य भारतीय भाषाओं से नए शब्दों को अपनाना है। यह ठीक है। भाषा को कुछ व्यापक बना देना चाहिए। आप सबने शायद राममनोहर लोहिया अस्पताल के सामने जो 'सबवे' अंग्रेज़ी शब्द का हिन्दी ट्रान्सलेशन भूमिगत पैदल पार पथ पढ़ा होगा। अंग्रेजी की निंदा हम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हर साल आक्सफोर्ड डिक्शनरी में विश्व की सभी भाषाओं के शब्द जो ज्यादा प्रचालित हों, वे शामिल होते हैं। भारत की भाषाओं के शब्द भी उसमें मौजूद हैं। हम भूमिगत पैदल पार पथ जैसे शब्दों से भाषा को नहीं पनपा सकते हैं, भाषा को व्यापक नहीं बना सकते हैं। और मेरा यह अनुभव है कि जो भी शिक्षित अपने को अभी भी अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति की जंजीरों में जकड़े हुए हैं, उनकी मानसिकता में जब तक बदलाव नहीं आता है, तब तक हिन्दी

की रक्षा कोई नहीं कर सकता है। हिन्दी खतम होने वाली है इन अधिकारियों के कारण, इनकी मानसिकता के कारण। अगर इसकी रक्षा करना चाहते हैं तो हमें फिर आन्दोलन चलाना होगा। जिस प्रकार हिन्दी को राजभाषा और राष्ट्रभाषा का गौरव अहिन्दी क्षेत्रों में महात्मा गांधी, सरदार वल्लभभाई पटेल, राजगोपालाचारी ने दिया है, उसी प्रकार अहिन्दी क्षेत्र ही हिन्दी की रक्षा कर सकते हैं। इसलिए मैं हाथ जोड़ कर अपनी भावनाओं को आपके सामने रख रहा हूं।

इसके अलावा मैं राजभाषा समिति के गठन के बारे में आपसे दो शब्द कहना चाहता हूं। संसदीय राजभाषा समिति में 30 संसद सदस्य होते हैं, 20 लोक सभा से और 10 राज्य सभा से। इन 30 संसद सदस्यों को तीन उप समितियों में बांटा जाता है, तीनों उप समितियों का एक-एक संयोजक होता है, तीन संयोजकों के ऊपर एक उपाध्यक्ष होता है जो सभी कारोबार चलाते हैं, उनके उपर अध्यक्ष हैं, गृहमंत्री लाल कृष्ण आडवाणीजी। अभी तक भारत में 6,500 कार्यालयों का हमने निरीक्षण किया है और 500 से अधिक गणमान्य व्यक्तियों से मौखिक साक्ष्य भी लिया है, जिसमें राज्यों के मुख्य मंत्री, राज्यपाल, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी शामिल हैं। सभी आंकड़े अभी भी हमारे पास कम्प्यूटर में हैं, हिन्दी में काम करना "क" क्षेत्र के जो भी अधिकारी हैं, वे अपना अपमान समझते हैं। इसलिए मैं आप सबसे अनुरोध करता हूं कि इन महानुभावों की मानसिकता को बदलने की चेष्टा हम सभी को मिलकर करनी है, तभी कुछ हो सकता है। वैश्वीकरण से कुछ नहीं हो सकता, हिन्दी का कोई नुकसान नहीं हो सकता है। जो भी यहां अपने प्रोडक्ट को बेचने आता है, उसे हिन्दी में ही अपना विज्ञापन देना पड़ता है। कैमी सोप का भी विज्ञापन अब हिन्दी में है... फर्नीचर का विज्ञापन हिन्दी में है, अंग्रेज़ी में नहीं है और पूरे दक्षिण भारत में आज आप केरल जाइए, त्रिवेन्द्रम जाइए, कन्या कुमारी जाइए, वहां स्टेशन पर मूंगफली बेचने वाला फली-फली करके बेच रहा है न कि अपनी मलयाली या तेलगू भाषा में बेच रहा है। अपने प्रोडक्ट को बेचने के लिए जो व्यापारी लोग आते हैं, उनसे हमारी संस्कृति और सभ्यता की कोई टक्कर नहीं है, लेकिन अपने घर के जो चोर हैं, और जो मातृभाषा हिन्दी होने पर भी हिन्दी के खिलाफ अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति की जंजीरों में जकड़े हुए हैं, माता के दूध का अपमान करने वाले हैं, उन शिक्षित लोगों के विरूध हमें

लड़ाई लड़नी है, तभी हिन्दी की रक्षा हम कर सकते हैं।

इन दो शब्दों को आपसे बांटने का जो अवसर दिया है, उसके लिए मैं तहेदिल से आभार व्यक्त करता हूं। इस पर किसी को कोई आपत्ति है तो 11, तीन मूर्ति मार्ग मेरा पता है, आप पत्र लिखिए, आप कभी भी फोन करके मेरे आफिस में आ जाइए, मैं सभी आंकड़े आपके सामने, चाहे वे गोपनीय भी हो, अधिकारियों के नाम सहित दिखा सकता हूं।

वैश्वीकरण और हिन्दी

कृष्ण कुमार*

वैश्वीकरण को संदर्भ बनाकर हिन्दी पर विचार करने की यह कोशिश नई है और इसलिये अनिवार्यत: अटपटी है। हिन्दी पर विचार करते समय हमें राज्य को संदर्भ बनाने की आदत रही है। इस आदत के ऐतिहासिक कारण इतने परिचित हैं कि उनका जिक्र समय की बर्बादी ही करेगा। राज्याश्रय को एक अधिकार की तरह देखने वाली हिन्दी आज कुछ अनाथ महसूस कर रही है क्योंकि स्वंय राज्य अपनी आश्रयदाता भूमिका के प्रति आश्वस्त नहीं रहा। राज्य की मदद से हिन्दी का विकास, संरक्षण और प्रसार उस राजनैतिक युग की धाती है जब राष्ट्र-राज्य बना था और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सपना राष्ट्र-निमार्ण के काम का स्वाभाविक अंग नजर आता था। हिन्दी को केन्द्र सरकार की राजभाषा बना देना इस सपने की आंशिक या प्रतीक-पूर्ति का जरिया था। इस राह पर अंग्रेजी से किया गया 1967 का समझौता दो सत्तावानों का आपसी करार था। यह करार इतना दीर्घायु होगा कि स्थायी दिखने लगे, यह आशंका साठ के दशक का छोर आते-आते कइयों को होने लगी थी। पर उस समझौते की राजनीति पर विचार किया जाना अभी तक बाकी है, भले हम नब्बे के दशक की शुरूआत के साथ राष्ट्र-निर्माण और राज्य की सामाजिक भूमिका के एक अलग दौर में प्रवेश कर गये हैं।

राष्ट्र-निमार्ण का काम जारी है पर आज यह काम भाषा के कोमल आकर्षण से कहीं ज्यादा बलशाली धर्म और शत्रुता जैसे आवेगों की राजनीति कर रही है। भाषा इस समय राष्ट्रीयता के फोकस में नहीं है, इसलिये हम कुछ तटस्थ होकर उस अतीत के एक दो पाठ याद कर सकते हैं जब भाषा राष्ट्र की एक बड़ी चिंता

*शिक्षाविद्, प्राध्यापक, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

थी। नई सदी की प्रखर और यकायक गरमा गई उषा में कई चीजें पहले से कहीं ज्यादा साफ दिख रही हैं। पहला, यह कि राष्ट्र निर्माण का वह सपना, जिसमें संविधान की 351वीं धारा के तहत हिन्दी का विकास शामिल था, मूलत: अभिजनों का स्वप्न था। न उसमें हिन्दी के लोकरूपों की स्वीकृति निहित थी, न उसमें हिन्दी एक लोकतांत्रिक सभ्यता के साधन की तरह देखी गई थी। दूसरी, यह कि हिन्दी एक राजनैतिक हथियार थी जो आर्थिक व शैक्षिक रूप से कमजोर उत्तर भारत में नेतृत्व की लड़ाई में काम आई-एक बार नहीं, बार-बार काम आई और हर बार किसी नये बहाने से काम आई। इसे कभी सवर्ण तो कभी पिछड़े, कभी राष्ट्रीय तो कभी क्षेत्रीय, कभी सेक्यूलर तो कभी अलगाववादी उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया गया। तीसरा, यह कि विकास की कई कसौटियों पर हिन्दी आज साठ के दशक से ज़्यादा कमजोर स्थिति में है। इन कसौटियों में शिक्षा, खासकर उच्च शिक्षा, और शोध में हिन्दी का इस्तेमाल, निर्णय और न्याय की औपचारिक प्रक्रियाओं में उसकी जगह, तथा प्रकाशन उद्योग की सेहत शामिल है। इन चंद बातों को मैं यहाँ उस सच्चाई की तरफ इशारे के तौर पर रख रहा हूँ जो अर्थनीति के उदारीकरण और वैश्वीकरण के तहत प्रकट हुई है। यह सचाई जटिल और सर्वव्यापी है, इस कारण उस अन्तराल से बहुत ज़्यादा प्रभावित नहीं हुई है जो 11 सितम्बर की घटना ने मुहैया कराया है। ब्रिटिश विद्वान जॉन ग्रे का यह कहना कि 11 सितम्बर को 'वैश्वीकरण का अंत' मान लिया जाए, हमे सच्चाई के ज़्यादा करीब लगेगा अगर 'अंत' को हम 'अंतराल' की संज्ञा दें। हम हिन्दीभाषी लोग, जो अप्रत्याशित बदलाव के आदी हैं, धोखा, षड्यंत्र और उपेक्षा बगैर चौंके स्वीकार लेते हैं, इस अंतराल का उपयोग अपनी भाषा और उससे जुड़ी महत्वकांक्षाओं पर विचार के लिए कर सकते हैं।

वैश्वीकरण - नया और पुराना

'वैश्वीकरण' या उससे भी ज़्यादा रोमांचक 'भूमंडलीकरण' जैसी अवधारणएँ उतनी नई नहीं हैं जितनी वे इन शब्दों में वयक्त होकर लगती हैं। मानव समाज के इतिहास की दृष्टि से देखें तो ये अवधारणाएँ पुरातन हैं। यात्रा, प्रवास, व्यापार और विस्थापन व पुनर्वसन के आख्वान मनुष्य की साँझा सांस्कृतिक धरोहर के अंग कहे जा सकते हैं। रामायण और इलियड, पंचतंत्र और ईसप की समरुपताएँ मानव चेतना के वैश्वीकरण की लम्बी उम्र बताती हैं। 'यूनिवर्सिटी' या विश्वविद्यालय' की अवधारणा शाब्दिक स्तर पर भी यह चेतावनी देती है कि शिक्षा के वैचारिक

संसार की भौगोलिक सीमाएँ तय करना बेमानी है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने औपनिवेशिक शिक्षा की जड़ता के विरुद्ध अपने विश्वविद्यालय को खड़ा करने के लिए शिक्षा के इसी मानवधर्म-रूप का सहारा लिया था।

विचारों और बिम्बों के फैलाव की पुरातन कथा से ज़्यादा प्रासंगिक व्यापार की कहानी है जो यूरोपीय नवजागरण के समय औपनिवेशिक नियंत्रण के दौर में प्रवेश कर रही थी। दक्षिण व पूर्वी एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के उपनिवेशीकरण में आज के वैश्वीकरण की पूर्व-पीठिका कहलाने की हैसियत कम से कम दो कारणों से है। **पहला** कारण यह है कि उपनिवेशवाद के दौरान स्थापित आर्थिक और राजनैतिक संबंध-रचना आज की विश्व-वयवस्था में साफ प्रतिबिम्बित होती है। श्रम और मुद्रा की प्रचलित कीमतें ऐसी इबारत हैं जिसमें हम पिछले चार सौ बरस का इतिहास पढ़ सकते हैं। **दूसरा** कारण उस सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की अक्षुण्णता है जो औपनिवेशिक विजय और नियंत्रण के ज़रिये स्थापित हुआ। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के स्थायित्व के लक्षण हम भाषा और शिक्षा में देख सकते हैं। औपनिवेशिक विजय की भाषाएँ आज की दुनिया पर दबदबा बनाए हुए हैं। शिक्षा के ज़रिये ये भाषाएँ ही नहीं, ज्ञान और विद्या की वे परिधियाँ भी लगातार मजबूत हो रही हैं जो औपनिवेशिक काल में रची गई। इनकी प्रतिक्रिया में उपजा देशज़तावाद अपने को उसी संकीर्णता से घेर लेता है जिसका आरोप उपनिवेशकों ने हमारी संज्ञान और भाव-क्षमताओं पर लगाया था।

एक उपनिवेश रह चुके देश के नागरिक के रुप में हमें वैश्वीकरण की बात एक नई खबर नहीं लगती। फिर भी यह सच है कि बीसवीं सदी के आखिर दशक में उठा वैश्वीकरण का नारा अपने साथ एक-दो नये साधन लेकर आया है। इन साधनों का अर्विभाव वैश्वीकरण के नारे से पहले हो चुका था, पर उसके प्रयोग के रूप आज अप्रत्याशित रूप से बढ़े-चढ़े लगते हैं। हम मुख्यत: दो साधनों की तरफ इशारा कर रहे हैं - एक इलैक्ट्रानिक्स, खासकर माइक्रोचिप पर आधारित उद्योग-तंत्र, दूसरा, संचार व प्रसार, जिनमें इलेक्ट्रॉनिक्स का प्रयोग शामिल है। टैक्नालॉजी के इन दो दायरों में हुए परिवर्तनों को प्राया क्रांति का नाम् दिया जाता है, यद्यपि इस क्रांति का स्वरूप साफ नहीं है। इलेक्ट्रॉनिक्स के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों में औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया को ओर-छोर प्रभावित किया है। औद्योगिक उत्पादन और प्रबन्धन में मनुष्य के श्रम और बुद्धि की भागीदारी का स्वरूप इस हद तक बदल चुका है कि हम आज के कई परिवर्तित

स्वरूपों का जायज़ा लेने पर ऐसा महसूस करते हैं। विश्व अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन का वितरण और आवारा पूंजी के प्रबन्धन की समस्याएँ आज के वैश्वीकरण का एक पहलू हैं, तो दूसरा पहलू माइक्रोचिप पर आधरित उत्पादन-प्रणाली है। उत्पादन में वृद्धि आज रोजगार में वृद्धि का ज़रिया नहीं रह गई है। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। टायर बनाने वाली गुड ईयर कंपनी ने 1996 में 1988 के मुकाबले 30 प्रतिशत ज़्यादा उत्पादन किया जबकि इस बीच वह 2400 कर्मचारियों को निकाल चुकी थी।

दूसरा कारण संचार के संदर्भ से उपजा है। यहाँ भी इलैक्ट्रानिक्स के प्रयोगों का भारी असर दिखता है, पर संचार - जिसमें व्यक्तिगत संदेश, प्रकाशन, खासकर अखबार, टी वी और इंटरनेट शामिल हैं - की परिधि अधिक व्यापक है। इस परिधि को चिन्हित करने के लिये हमें संदेशों व सूचनाओं को ले जाने वाली टेक्नालॉजी के अलावा उन सामाजिक व राजनैतिक बदलावों को भी मद्देनज़र रखना होगा जो संदेशों की प्रवृति पर असर डालते हैं। इन बदलावों में व्यक्ति की सामूहिक पहचानों की हिस्सेदारी महत्वपूर्ण है। बीसवीं सदी के मध्य में दूसरे विश्व युद्ध के बाद उभरी विश्व-व्यवस्था को संचालित करने में सामूहिक पहचानों का योगदान पहले से भी अधिक रहा तो इसका एक कारण संचार के साधनों के इस्तेमाल में ढूँढ़ा जाना चाहिए। अखबार और टेलीविजन सरीखे ताकतवर प्रसार माध्यमों के स्वामित्व में निजी पूँजी और राज्य के नियंत्रण की धूप-छांव वैश्वीकरण के वर्तमान और भावी स्वरुप की जांच के लिए एक जरुरी पृष्ठभूमि है, खासकर यदि हमारी निगाह एक भाषा और उसका व्यवहार करने वाले समाज पर हो। हिन्दी और हिन्दीभाषी समाज पर आज पड़ रहे दबाव उस पुराने वैश्वीकरण के दौरान पड़े स्वरुपों से काफी भिन्न हैं जो उपनिवेशीकरण के रुप में विकसित हुआ था। दबाव ही भिन्न नहीं, वे परिस्थितियां भी काफी अलग हैं जिनमें आज हम वैश्वीकरण की चर्चा कर रहे हैं। वे इतनी भिन्न हैं कि हम यह भी तय नहीं कर सकते कि उनके लिये 'वैश्वीकरण' शब्द का प्रयोग कितना उचित है। शायद दो-ढाई दशक बाद हमें लगे कि इस दौर को वैश्वीकरण' कहना गलत था। इस आशंका के चलते हम यदि वैश्वीकरण' को एक अंतरिम संज्ञा मानें तो बुरा नहीं होगा।

हिन्दी पट्टी - अभाव ओर विषमता

हिन्दी प्रदेशों और हिन्दी भाषा पर वैश्वीकरण के इस दौर के प्रभावों की

पड़ताल यह मान कर चल सकती है कि किसी भाषा का भाग्य उसे बरतने वाले समाज के भाग्य से जुड़ा होता है। यद्यपि भाषा किसी समाज की तस्वीर ही नहीं, तकदीर और उसे प्रभावित करने वाली तरकीब भी होती है, पर समाज का चरित्र, उसकी संरचना और वे परिस्थितियाँ जो संरचना पर असर डालती हैं, भाषा के स्वास्थ्य और भविष्य की दिशा बनाती हैं। इन मान्यताओं के घेरों में रह कर हम वैश्वीकरण के आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक संदर्भो का मुआयना करेंगे। आर्थिक दृष्टि से देखें तो वैश्वीकरण का यह दौर पहले से व्याप्त आर्थिक विषमताओं के गहराने का वक्त नज़र आता है, हालाँकि यह सच है कि यदि यह लेख दस वर्ष पहले लिखा जाता तो वैश्वीकरण के विषमतापोषी चरित्र पर टिप्पणी सिर्फ सैद्धान्तिक नज़र आती। उस समय उत्पादन और व्यापार को बढ़ाने वाला पक्ष ही चर्चा का विषय था। प्रधानमंत्री पी०वी० नरसिम्ह राव ने 1991 का चुनाव जीतने के तुरन्त बाद उदारीकरण की नई आर्थिक नीति का विश्व-संदर्भ समझाते हुए दूरदर्शन पर कहा था कि भारत विश्व अर्थव्यवस्था की दिशा और प्रवृति से अलग नहीं रह सकता। विश्वनाथ प्रताप सिंह जैसे प्रतिपक्षी नेता भी यही तर्क दे रहे थे। नेताओं के कहने के ढंग में प्रकट रुप से विवशता का तर्क था, पर प्रच्छन्न रुप से वह धमकी का तर्क था। राव के शब्दों में निहित धमकी यह थी कि यदि हम तुरन्त और चुपचाप नई आर्थिक नीति की नारेबाजी के लिये विश्व बैंक द्वारा मुहैया कराई गई बस पर सवार नहीं हो जाते तो हम अंधेरे में अकेले खड़े रह जाएँगें। इस धमकी में निहित जल्दी का निर्देश, सोचने के वक्त की मनाही और कही जा रही बात मान लेने पर ढेर सारे फायदों का वायदा अगले कई वर्षों के आर्थिक और नैतिक विमर्श के स्थाई भाव बनने जा रहे थे। प्रधानमंत्री के उस आरम्भिक वक्तव्य में बहुत सुलझे हुए ढंग से बताया गया था कि आर्थिक उदारीकरण के तहत व्यापार खुलेगा, निर्यात बढ़ेगा तो उत्पादकता बढ़ेगी और जब हम ज़्यादा कमाएँगें तो उस कमाई में सबकी हिस्सेदारी भी बढ़ेगी। इस सरल विश्लेषण का संदेश था कि गरीबी और विषमता का नया इलाज अब तक चले आ रहे सामाजवादी इलाज से उम्दा ठहरेगा। दस साल बाद आज हमें पुनरावलोकन की सुविधा है। इस सुविधा का लाभ उठाकर हम कह सकते हैं कि उदारीकरण एक अर्थनीति से ज़्यादा एक विचारधारा बनकर फैला। इसे अपनाने और उत्साह से प्रचारित करने वाले वर्ग समाज के धनी और ताकतवर वर्ग थे। उन्होंने उदारीकरण के विरोध की राजनीति के लिए विशिष्ट इंतजाम किये।

विरोध के स्वर निर्धन और कम साधन वाले वर्गों से उभरे, पर प्रसार माध्यमों ने उनके विरोध की अनदेखी की। सामाजिक और आर्थिक विषमता बढ़ी, पर राजनीति पर इसका असर सिर्फ अस्थिरता के रूप में दिखा जिसका लाभ संपन्न वर्गों और विश्व बैंक जैसी संस्थाओं को मिला।

उदारीकरण इस जानकारी के साथ ही, और इस आधार पर किया था कि इन नीतियों से अफ्रीका में राजनैतिक अस्थिरता बढ़ी थी, संस्थाएँ कमजोर हुई थीं, और विदेशी संसाधनों पर निर्भरता गहराई थी। भारत में भी ठीक यही हुआ। यद्यपि विश्व-स्तर पर खेल दिखाने वाली आवारा पूँजी के कमाल अभी हम ठीक से नहीं देख पाये हैं, इसलिये अभी हमें लातीनी अमरीका के अनुभव अपने लिऐ प्रासंगिक नहीं लगते। लेकिन इतना स्पष्ट है कि विकास का हर क्षेत्र - और आज प्राथमिक शिक्षा भी इस बात में शामिल है - विदेशी कर्ज़ और अनुदान का मोहताज़ होता चला गया है। बेरोजगारी और कंगाली का विस्तार उसी प्रक्रिया के पहलू हैं जिसकी दूसरी सतह पर धन की संस्कृति, परजीवीपन और भ्रष्टाचार की मोहर है।

उदारीकरण और वैश्वीकरण के ये कुफल हिन्दी क्षेत्र में दक्षिणी या पश्चिमी भारत के मुकाबले ज़्यादा विषैले साबित होने की आशंका जायज़ है। सरकारी नौकरी का सूखता सरोवर, पूँजी निवेश की मरीचिका और जीनबदल बीजों के जरिये खेती पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की छाया एक डरावना परिदृश्य रचने के लिये पर्याप्त हैं। उद्योगों की कमी और खेती के मशीनीकरण से उपजी विषमता, बेदखली और बेरोजगारी हिन्दी पट्टी में पहले ही एक गंभीर सामाजिक चुनौती बनी हुई थीं, इस दौर में वे विकराल रुप ले चुकी हैं। कारगिल संकट के दौरान सेना के लिऐ आयोजित भर्ती में एक-एक जगह तीन-चार लाख बेरोजगारों की भीड़ उमड़ी। इनमें से एक भर्ती केन्द्र पर भीड़ को काबू में रखने के लिऐ पुलिस ने गोली चलाकर कई युवकों को मार डाला। ग्रामीण बेरोजगारी बिहार से आने वाली श्रमजीवी एक्सप्रेस हर रोज हज़ारों बेरोज़गारों और मजदूरों को दिल्ली लाती है। बम्बई और कलकत्ता जैसे महानगरों में हिन्दी प्रांतों की आर्थिक बेबसी सड़कों पर रिक्शा, बनती हुई इमारतों में मज़दूर और कारखानों में बोझा ढोती हुई औरत बन जाती है। विस्थापन और दोहन की दृष्टि से देखें तो लगता है कि हिन्दी पट्टी दिल्ली और कलकत्ता के बीच भागती राजधानी एक्सप्रेस के काले शीशों के पार पसरे धूसर, असुरक्षित मैदान का नाम है।

उत्पादन और रोजगार के साधनों की दृष्टि से वंचित हिन्दी प्रांतों में उपभोग की दृष्टि से कोई पिछड़ापन नहीं है। कार, संगीत, शराब और जूते जैसी दैनिक उपभोग की चीजों का बहुराष्ट्रीय जगत दमोह और इटावा को शामिल करके बना है। वैश्वीकरण का एक अर्थ यह भी है कि उपभोग का फैलाव उत्पादन से कहीं ज्यादा रहेगा। कोई इलाका कितना ही साधनहीन हो, उसके अभिजन उपभोग की विश्व-शृंखला से जुड़ेंगे और अपने साथ जीने वाले जन सामान्य से उनके संबंध कानूनी सुरक्षा और हिंसा की वैधता पर आधारित होंगे। इस व्यवस्था से प्रोत्साहित होनेवाली सांस्कृतिक टूटन - जिसके तहत शराब, मादक दवाएँ, बाल-वेश्यावृत्ति और औरत के दमन जैसी प्रवृत्तियाँ पनपती हैं - हिन्दी पट्टी के कई अंचलों में देखी जा सकती हैं।

हिंसा की भाषा

संक्षेप में खींचे गये इस आर्थिक शब्द-चित्र को सामने रखें तो हिन्दी भाषी समाज के सम्मूख खड़ा आर्थिक और सांस्कृतिक आपात्काल और उसे झेलती भाषा की समस्याएँ समझने में आसानी होगी। बेरोजगारी और विषमता में तेज़ रफ्तार से हो रही वृद्धि ने जीवन के हज़ारों संदर्भो को असुरक्षा - हिंसा - प्रतिहिंसा के चक्र में बाँध दिया है। यह चक्र इतनी ज़ोर से घूम रहा है कि साहित्य क्या, पत्रकारिता की दैनिक दौड़ भी उसका मुकाबला नहीं कर पा रही है। आधुनिक हिन्दी के निर्माण में पत्रकारिता का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, पर आज पत्रकारिता हिन्दी को प्रतिदिन क्षत - विक्षत करने की मुहिम बन गई है। किसी भी छोटे-बड़े प्रांतीय अखबार के आंचलिक पन्ने देखिये, छोटी-छोटी खबरों में वर्णित हिंसा की सूचना देनेवाली भाषा स्वयं क्रूरता और उत्पीड़न के प्रति तटस्थता के प्रति बनता है। संचार के नज़रिये से देखें तो भी पत्रकारिता की भूमिका में विखंडन ही ज़्यादा ठहरता है, जुड़ाव कम। राष्ट्रीय और प्रांतीय अखबार अब एक अंचल को दूसरे अंचल की खबर नहीं लगने देते। अखबारों के स्वामी जानते हैं कि हिंसा का स्थानीय रुप ही बिक्री के लिये सबसे आकर्षक होता है। अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय हिंसा की खबरों से बचने वाली जगह अनिवार्यत: उस हिंसा के लिए आरक्षित हो जाती है जो पाठक के अपने शहर या जिले में घटी हो। हिंसा से अलग वे सूचनाएं ही थोड़ी-बहुत जगह पाने में समर्थ हो पाती हैं जिनका संबंध स्थानीय शक्ति-सम्पन्न लोगों के क्रियाकलापों से होता है। रंगीन, चिकने पृष्ठ उपभोग के प्रतिमान रचने वाले फिल्म और सौंदर्य-उद्योग के लिये आरक्षित

रहते हैं। जहाँ नाना प्रकार की विलास-सामग्री के व्यापार को बढ़ावा देने के लिये औरत की बिक्री की जाती है।

हिन्दी पत्रकारिता का यह चित्र दुर्भाग्यवश सरलीकृत नहीं कहला सकता। राजकिशोर और प्रभाष जोशी जैसे पेशेवर पत्रकार भी कहते रहे हैं कि हिन्दी पत्रकारिता एक बड़े भारी संकट से गुज़र रही है। इस संकट के कई प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष संबंध वैश्वीकरण से हैं। अंग्रेजी पत्रकारिता भी इस बड़े संदर्भ से प्रभावित हुई है, पर यह कहकर हम कोई संतोष नहीं पा सकते। हिन्दी संघर्ष की भाषा रही है। उपनिवेशवाद और पूंजीवादी साम्राज्यवाद के खिलाफ लोकमन की राजनैतिक तैयारी के दौरान ही आधुनिक हिन्दी की कई शीर्ष-रचनाएँ जन्मीं। आज यदि हिन्दी पत्रकारिता संघर्ष से कहीं ज़्यादा समर्पण के सबूत देती है तो यह अवश्य एक घटना है, जो विशेष महत्व की इसलिये है क्योंकि उसके साथ हिन्दी प्रदेशों की प्रशासनिक पुनर्रचना हो रही है। प्रकृति और श्रम के दोहन में यह दूसरी घटना के निहितार्थ चिंता का विषय होना चाहिये।

इस घटनाचक्र के शोर-शराबे में हम हिन्दी की बड़बोली राजनीति का अवसान भी देख सकते हैं - और वही शायद इस घटना का अकेला कुछ सुखद पहलू है। सत्तर के दशक से हिन्दी के नाम पर की जाने वाली राजनीति अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी छोड़कर विशुद्धतः सत्ताखेल बन गई थी। उसका सबसे घिनौना चरण भाजपा के हाथों खेला जाना शेष था, जो अब खेला जा चुका है। अब शायद कोई दल शेष नहीं रहा जो हिन्दी की दलाली का अभिनय इस तरह कर सके कि वह समाज के एक न एक वर्ग को लूभा ले। वैसे भी उदारीकरण और वैश्वीकरण ने राजनेताओं की हैसियत और महात्वाकांक्षा में भारी कटौती कर दी है। अब हिन्दी उस स्वप्न से पूरी तरह जाग सकती है जो आज़ादी के बाद शुरु हुआ था। उस सपने में हिन्दी भारतमाता के पास खड़ी दिखती थी और कई नेता उसके आगे हाथ जोड़े झुके हुए थे।

शिक्षा से आशा

हिन्दी के सत्ता-स्वप्न का अंत शिक्षा में काफी समय से उजागर होने लगा था। अंग्रेजी-माध्यम स्कूलों का विस्तार और उनके आकर्षण का प्रसार कल या परसों की नहीं, नरसों की घटना है। वैश्वीकरण के ताज़े दौर में अंग्रेजी जैसी प्रभुत्वशाली भाषाओं का दायरा और लोभ बढ़ा है और इस कारण हम मानकर

चल सकते हैं कि हिन्दी क्षेत्र में अंग्रेजी-माध्यम स्कूली शिक्षा का विस्तार जारी रहेगा। इस क्रम के कई अर्थ अब हम पहले से ज्यादा साफ़ तौर से जानते हैं। उच्च शिक्षा में हिन्दी की दूरावस्था और ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से हिन्दी का निष्कासन बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है। सर्जनात्मक साहित्य और पत्रकारिता दोनों पर इसका गहरा असर पड़ा है। ज्ञान-विज्ञान के विमर्शों से मिलने वाली खुराक हिन्दी को मिलना लगभग बंद हो गई है, इस कारण स्वाभाविक विकास-क्रम में होने वाला शब्द-निर्माण और शब्दों का अर्थ-विस्तार रूक सा गया है।

उधर हिन्दी क्षेत्र में संस्थायी शिक्षा में प्रवेश जाति के ऊँच-नीच में नीचे रखी गई जातियों, शहरों से दूर स्थित क्षेत्रों व स्त्रियों के बीच भारी रुकावटों के बावजूद बढ़ा है। हिन्दी समाज की नियति का इस विस्तार से गहरा संबंध है, पर वह आसानी से विश्लेष्णीय नहीं है। वह समूची नई पीढ़ी, जो आज स्कूलों और कॉलेजों के द्वार पर पहुंच रही है, तरह-तरह के अभावों को झेलने वाले ग्रामीण माता-पिता की संतान है। इस पीढ़ी के कई चेहरे और व्यवहार शिक्षा की स्थापित व्यवस्था के लिये इतने नये हैं कि आम शिक्षक उन्हें पहचानने में भी कठिनाई महसूस करता है। शिक्षक स्वयं उदारीकरण के तहत आई क्रूर और विनाशक नीतियों की मार झेल रहा है। पाठ्यक्रम की नीति प्रतिक्रियावादी रुझानों से घिर गई है। इस परिस्थिति में हिन्दी समाज से उभरने वाली सर्जना और प्रतिभा की अवहेलना जारी रहने की पूरी संभावना है, पर यह भूलना गलत होगा कि शिक्षा के दायरे में शामिल सामाजिक प्रतिभा की कुल मात्रा पहले से कहीं अधिक है और उसके प्राथमिक अनुभव-संस्कार पहले से ज़्यादा विविधता लिये हुए हैं। इतनी आशा तो हम कर ही सकते हैं कि शिक्षा के संस्थायी दरवाज़ों में प्रवेश कर रही यह नई प्रतिभा-राशि हिन्दी को एक बार फिर संघर्ष की भाषा बनायेगी, और संघर्ष से उपजने वाली ऊर्जा का एक बड़ा हिस्सा खा जाने वाले राजनैतिक दलाल इस बार पहले सरीखा कमाल नहीं दिखा सकेंगे।

शिक्षा के संदर्भ में वैश्वीकरण के सिलसिले में सबसे चर्चित घटना इंटरनेट है। उसकी संभावनाएँ साठ के दशक में टी वी के संदर्भ में बताई गई संभावनाओं से निश्चय ही अधिक हैं। पर जिस तरह टी वी, और उसके पहले रेडियो, को शिक्षा के लिए एक अप्रत्याशित वरदान मान लिया गया, ठीक उसी तरह आज इंटरनेट की चर्चा शिक्षा की बुनियादी अवधारणाओं को अनदेखा करके एक दैवी साधन के रूप में की जा रही है। शिक्षा की सबसे बुनियादी परिधि शिक्षक और

छात्र के संबंध द्वारा रची जाती है। किताबों में छपी सूचनाएँ छात्र और शिक्षक के संबंध की ऊष्मा पाकर ही ज्ञान बन पाती हैं। दूरसंचार के साधनों की एक बड़ी समस्या यही है कि वे सूचना और ज्ञान के अंतर को पोंछने की कोशिश करते हैं। इंटरनेट के वकील प्राय: सूचना को ही ज्ञान बताते हैं और इस तरह वे जाने-अनजाने वैश्वीकरण को एक षड्यंत्रकारी मुहिम का रूप दे डालते हैं। इस मुहिम का मकसद तीसरी दुनिया के देशों में ज्ञान और मौलिक शोध की उभरती हुई क्षमताओं को नष्ट कर देना प्रतीत होता है। शोध के लिये ज़रूरी मानस और आदतें कम्पयूटर और इंटरनेट की रफ़्तार के सामने अनुपयोगी दिखनेलगती हैं। इन आदतों को जिनमें अध्यवसाय, स्मृति और संवाद क्षमताओं का विकास शामिल है - उन्हें सामाजिक और शैक्षणिक महत्व देने की बात पिछड़ेपन की निशानी दिखती है और इस तरह शोध और चिंतन को एक दकियानूसी विलास की संज्ञा देना संभव हो जाता है।

एक ऐसे समय में, जब समाज की एक बड़ी आबादी पहली बार अपनी संतान को स्कूल या कॉलेज भेज रही हो, ऐसी तर्क-प्रक्रिया एक षड्यंत्र से कम नहीं है। हिन्दी क्षेत्र में पत्राचार शिक्षा काफी लोकप्रिय साबित हुई है। दूरस्थ शिक्षा की संस्थाएँ शिक्षा-शास्त्र की बुनियादी अवधारणाओं को किस हद तक पुनर्परिभाषित कर सकी हैं, यह कई वर्षों के अनुभव के बाद भी स्पष्ट नहीं हो सका है। इतना भर उजागर होने लगा है कि एक ही संस्था पत्राचार कार्यक्रम के ज़रिये अपने नियमित पाठ्यक्रम का सस्ता संस्करण भारी कीमत लेकर बेचती है, और यह बात भारत के तमाम विश्वविद्यालयों से लेकर एम०आइ०टी० पर लागू होती है। दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम ज्ञान और विद्या के व्यापारीकरण की दिशा में एक बड़ा कदम साबित हुए और इंटरनेट इसी दिशा में एक और बड़ा कदम है। उदारीकरण के तहत ज्ञान सम्पदा के अधिकारों को लेकर बनाई जा रही विश्व-नीतियाँ भी शिक्षा के पूर्ण व्यापारीकरण का रास्ता खोलती हैं।

इस पूरे विकास-क्रम में हिन्दी क्षेत्र सरीखे शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए इलाकों के लिये कोई वास्तविक नई खबर नहीं है, और वे विराट भ्रम भी नये नहीं हैं जो सूचना-क्रांति के बहाने फैलाये जा रहे हैं। यह क्रांति शिक्षा और बच्चों के सांस्कृतिक विकास में पहले से चल रही टूट-फूट को बढ़ा ही सकती है, और इस नाते वह सामाजिक स्पर्धाओं को सघनतर बनायेगी। हिन्दी क्षेत्र में फैलती हुई शैक्षिक चेतना इन समानान्तर परिवर्तनों से कितना प्रभावित होगी, कहना कठिन

है, पर यह कहना कठिन नहीं है कि शिक्षा की सामाजिक चुनौतियाँ सूचना-क्रांति से उपजी चकाचौंध में बहुत समय तक डूबी नहीं रह सकतीं। वैश्वीकरण के घटनाचक्र ने एक तरफ चेतना और चिंताओं को फैलाया है, तो दूसरी तरफ सिकोड़ा भी है। चेतना का संकोचन किसी समाज में कौन-सा रूप लेता है, यह उसकी ऐतिहासिक विरासत और सांस्कृतिक इच्छा-शक्ति पर निर्भर है। हिन्दी क्षेत्र की विशेषता रही है कि वह आंचलिक विविधता में जीते हुए बुनियादी तौर से संग्रहीत भी रहा है। वैश्वीकरण के चलते उसकी सामूहिक चेतना का संकोचन अंततः सांस्कृतिक बिखराव की शक्ल लेगा या नवजागरण की? इस समय दोनों संभावनाएँ संतुलन की स्थिति में हैं। यदि शिक्षा की व्यवस्था के भीतर झांकें तो लगता है कि वह वैश्वीकरण के तहत बढ़ी आर्थिक विसंगतियों और प्रतिक्रियावादी राजनीति से जूझने का काम नहीं कर सकती। पर यदि हम शिक्षा के सामाजिक परिदृश्य पर गौर करें तो लगता है कि उत्तर के विशाल मैदान और पठारों में पसरी ग्रामवासिनी सामाजिक चेतना लगभग अस्सी वर्षों की भाषाई राजनीति से मुक्ति का लाभ लेने की स्थिति में आ गई है।

वैश्वीकरण के रूबरू हिन्दीः चुनौती और अवसर

लाल बहादुर वर्मा*

आज अमरीका में जितना आतंकवाद का आतंक है उतना ही अमरीका द्वारा संचालित-नियंत्रित वैश्वीकरण का आतंक तीसरी दूनिया में है। परोक्ष और प्रच्छन्न साम्राज्यवाद के उपकरण के रूप में वैश्वीकरण भारत के प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों के बीच प्रतिकार का ताजा मुद्दा है। ज्यों-ज्यों इसके विविध आयाम उजागर हो रहे हैं, विरोध मुखर होता जा रहा है।

एजाज़ अहमद वैश्वीकरण के अर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक निहितार्थ पर जोर देते हुए स्पष्ट करते हैं कि कैसे वैश्वीकरण के सामने राष्ट्र-राज्य भी असहाय से होते जा रहे हैं । यह बढ़ती विकल्पहीनता घातक है। (आलोचना - जुलाई-सितम्बर 2001) यहां से वैश्वीकरण के प्रति प्रबुद्ध नागरिक के दृष्टिकोण का पता चलता है।

दूसरी ओर यह दलील भी है कि वैश्वीकरण का अर्थ सारे संसार में सांस्कृतिक समरसता या वैश्विक राजनैतिक समेकीकरण (global cultural homogeni zation or global political integration) नहीं है। (ऐंथनी मक्ग्रिड, ग्लोबल सोसायटी - स्टुअर्ट हाल आदि द्वारा संपादित पुस्तक "माडर्निटी" में) इस दलील में वैश्वीकरण को स्वीकारने का अग्रह न हो तो इसमें एक सच्चाई है कि मानव सभ्यता का जैसा विकास हुआ है उसमें सारी मानव सभ्यता एक साहित्यिक-सांस्कृतिक रंग में रंग जाए और उसकी एक भाषा (जाहिर है अंग्रेजी) हो जाए, इसकी काफी दिनों तक गुंजाइश नहीं है। किन्तु जिस तरह आर्थिक संदर्भ में राष्ट्रीय बाजार और राजनीतिक संदर्भ में राष्ट्र-राज्य के सामने खतरा बढ़ता जा रहा है उसी तरह सांस्कृतिक संदर्भ में राष्ट्रों की भाषाओं और संस्कृतियों के सामने भी खतरा

---

*प्रसिद्ध इतिहासकार

पैदा हो गया है। पर यह भी सच है कि अलग-अलग क्षेत्रों में यह खतरा अलग-अलग चुनौतियां प्रस्तुत कर रहा है और उनसे निपटने के लिए अलग-अलग तरह की रणनीतियों की जरुरत है। यह भी अलग-अलग देशों में अलग-अलग तरीके से चरितार्थ होगी।

उपर्युक्त समझदारी के साथ यदि हम वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी की स्थिति पर बात करें तो कुछ सकारात्मक पहलू तक पहुंच सकते हैं।

संकटों, संक्रमण, सहज सम्प्रेषण और समन्वय की संतान हिन्दी आज फिर एक नए संक्रमण की चुनौती से रुबरु है और लगता है एक बार फिर वह उबर जाएगी, उभर जाएगी, संवर जाएगी। 'वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी' हमें हिन्दी और वैश्वीकरण दोनों को बहुविध, अपनी समग्रता में समझने का अवसर देता है। एक ओर जहां हिन्दी के सामने स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय दबावों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय और वैश्विक दबाव चिन्हित हो सकते हैं वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक के साथ राजनीतिक और आर्थिक चुनौतियों को स्वीकार करने की अनिवार्यता स्पष्ट हो सकती है। इसी तरह वैश्वीकरण मात्र आर्थिक तथा वित्तीय परिघटना न होकर एक सांस्कृतिक प्रतिमान के रूप में भी ललकारता लग सकता है।

हिन्दी के उस "हिन्दवी" तक जाएं तो अमीर खुसरो के समकालीन समाज के संक्रमण के बीच फूटते अंकुर का साहस और संघर्ष सिर उठाता दिखाई देगा। अमीर खुसरो के चमत्कारी रचना-संसार के बीच हिन्दी की शिशु-क्रीड़ा मन मोह लेगी। इसी तरह उन्नीसवीं शताब्दी में औपनिवेशिक भारत में भरतेन्दु हरिश्चन्द्र की हिन्दी "गद्यम कवीनां निकषं वदंति" की अनुगूंज झंकृत करती लगेगी। आज वैश्वीकरण की तूफानी आंधी के बीच हिन्दी फिर एक गुणात्मक रुपांतरण की संभावना से समृद्ध दिख सकती है।

यह विमर्श आज इसलिए और अधिक प्रासंगिक लग रहा है कि सम्प्रेषण और सृजन के उपकरण के रूप में हिन्दी पूरी तरह चरितार्थ नहीं हो पा रही है। वैश्वीकरण एक ऐसी सर्वव्यापी परिघटना है कि कुछ भी यथावत् नहीं रह सकता - विकास, रुपांतरण अवश्यम्भावी है। ऐसे में हिन्दी को भी आगे जाना होगा या पीछे छूट जाना होगा। आगे जाने में - सृजनशील रुपांतरण में व्यक्तिगत, सामुदायिक तथा सरकारी प्रयासों की भूमिका को चिन्हित कर उसे कार्यान्वित

करना इस विमर्श से निकला स्वीकार्य कार्यभार होना चाहिए।

इस विमर्श के तह तक जाने के लिए ऐतिहासिक पद्धति सबसे फलदायी पद्धति लगती है। इसके लिए हिन्दी भाषा साहित्य को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना उपयोगी होगा। इसी तरह हिन्दी को सृजनात्मक साहित्य (कविता-कहानी-उपन्यास-नाटक) तक ही सीमित रखने के बाजाय हिन्दी के समस्त लेखन यानी साहित्येतर लेखन को भी संदर्भित करना होगा। साथ ही लेखन के कर्ता और ग्रहणकर्ता अर्थात् लेखक एवं पाठक दोनों के पक्ष से स्थिति को समझना चाहिए।

इसी तरह वैश्वीकरण की प्रकृति को समग्रता में समझना होगा - उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को विशेष रूप से चिन्हित करते हुए हिन्दी के संदर्भ में इस तरह से विश्लेषण करना होगा कि विमर्श हिन्दी बनाम अंग्रेजी के ही द्वन्द तक न सीमित हो जाए।

इस तरह हमें यह देखना है कि जो भी भाषा-साहित्य से अपेक्षित है वह हो रहा है या नहीं - हिन्दी में जो आवश्यक है वह रचा जा रहा है या नहीं - जो रचा जा रहा है उससे समाज का, लेखक का, पाठक का हित पोषण हो रहा है या नहीं। यदि नहीं तो इसके आत्मगत और वस्तुगत कारण क्या हैं। ऐसे में वैश्वीकरण की चुनौती के संदर्भ में हिन्दी का क्या भविष्य है? अन्त में, हमें वांछित, अपेक्षित और संभव को भी रेखांकित करना चाहिए। तभी अकादमिक कवायद जनसरोकार से जुड़ कर अपनी अर्थवत्ता को बढ़ा सकती है।

आइए, इस पृष्ठभूमि के बाद, मुद्दों का विश्लेषण कर यह देखें कि यह संक्रमण की स्थिति है या संकट की, इस स्थिति का कोई सकारात्मक पहलू है या नहीं।

वैश्वीकरण अपने में एक नैसर्गिक प्रक्रिया है, एक तरह से अप्रतिरोध्य, अनिवार्य। यही नहीं, उसे वांछित भी कहा जा सकता है। आधुनिक काल की लाक्षणिकता, मानवतावाद, उदारवाद, पूंजीवाद और जनवाद है। इनकी प्रकृति में ही वैश्विकता है इसलिए धीरे-धीरे इनका विस्तार होता गया है और सभी देशों ने इन्हें कमोबेश स्वीकारा है - संवारा है। परन्तु इन परिघटनाओं की प्रकृति में नकारात्मक और निषेधात्मक तत्व भी शामिल हैं। उदाहरण के लिए पूंजीवाद अनिवार्यत: उपनिवेशवाद और बाद में साम्राज्यवाद को जन्म देता है जो एक ही साथ आवश्यकतानुसार नियंत्रित आधुनिकीकरण और नैसर्गिक आधुनिकीकरण

का विरोध भी करते हैं। इसीलिए पूंजीवाद की सकारात्मकता और सृजनशीलता का क्षरण होता गया और उसकी नकारात्मक भूमिका बलवती होती गई है।

वर्तमान संदर्भ तक सीमित रहते हुए अगर हम विश्लेषण करें तो वैश्वीकरण के वर्तमान और पूंजी के वैश्वीकरण में श्रम के वैश्वीकरण का पग-पग पर विरोध है।

इसीलिए विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) के निर्माताओं द्वारा भी उसे पूरी तरह न स्वीकारना और उसे निरंतर राष्ट्रीय हितों में तोड़ना-मरोड़ना, ऐसा वैश्वीकरण में निहित अंतर्विरोध का ही सूचक है। इसीलिए अगर एक ओर "वर्ल्ड इकॉनॉमिक फोरम" (डब्ल्यू.ई.एफ.) सक्रिय है तो दूसरी ओर "वर्ल्ड सोशल फोरम" (वर्ल्ड.एस.एफ.) भी।

हम वैश्वीकरण के सांस्कृतिक पक्ष से ही सरोकार रखें तो साम्राज्यवादी संस्कृति या साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक मोर्चे सम्बंधी विवाद तत्काल ध्यान आकर्षित करते हैं। इस संदर्भ में भाषाओं के विलोपीकरण का मुद्दा, जिससे यूनेस्को भी चिन्तित है, नए रूप में आ खड़ा होता है। क्या वैश्वीकरण के कारण कुछ का या अंततः अंग्रेजी का वर्चस्व कायम हो जाएगा और अन्य भाषाएं गौण से गौणतर होती हुई विलुप्त हो जाएंगी? यह प्रश्न विशेषकर अविकसित और विकासशील देशों की भाषाओं के बारे में खासतौर पर प्रासंगिक होता जा रहा है।

थोड़ा विस्तार में जाएं तो आज का हमारा समय सूचना क्रांति का ही नहीं मनोरंजन क्रांति का भी है। ये दोनों क्रांतियां जुड़वाँ लगती हैं। आज सूचना मनोरंजन (इंटरनेट) एक ज्वार की तरह बढ़ रहा है और जीवन के हर क्षेत्र को आप्लावित करता जा रहा है। आज समाज का सांस्कृतिक जीवन तो उसकी मुट्ठी में है ही, वह सबसे बड़े उद्योग-व्यवसाय के रूप में भी उभर रहा है। अगर राजनीति अर्थव्यवस्था की घनीभूत अभिव्यक्ति होती है तो निश्चित ही राजनीति भी इस परिघटना से प्रभावित होती जा रही है। इस उथल-पुथल का एक भाषागत निहितार्थ भी है।

अंतर्राष्ट्रीय उद्योग-व्यवसाय की भाषा अधिकाधिक अंग्रेजी होती गई है। फ्रेंच अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति में सम्मानित रही है और फ्रांस के सांस्कृतिक प्रयोगों का केन्द्र होने के कारण फ्रेंच का दुनिया में विशेष सम्मान रहा है पर वैश्वीकरण के नए दौर में फ्रेंच भी अंग्रेजी के बाढ़ को थामने में असमर्थ होती जा रही है।

अभी दो-तीन दशक पहले फ्रांस में अंग्रेजी मात्र जानने वालों को कठिनाई होती थी - पेरिस में सभी साइनबोर्ड या बिल बोर्ड केवल फ्रेंच में होते थे। आज प्रमुख सड़कों पर अंग्रेजी प्रचार की भरमार है। सार्वजनिक जगहों और मेट्रो में फ्रेंच लोग अंग्रेजी जानने वालों से बात कर अपनी अंग्रेजी का अभ्यास करते सुनाई पड़ते हैं।

यह अनुभव-संगत तथ्य ही नहीं बल्कि वैश्वीकरण का सबसे प्रभावी और उदीयमान उपकरण इन्टरनेट अंग्रेजी का सबसे बड़ा वाहक बन गया है। इन्टरनेट पर अन्य भाषाओं के वेबसाइट्स उपलब्ध होते जा रहे हैं पर इन्टरनेट की मूल भाषा अंग्रेजी ही है और लगता है रहेगी भी।

इसके अलावा अंग्रेजी के पक्ष में एक और तथ्य निर्णायक है। आज अंग्रेजी ही दुनिया के शासक वर्ग की भाषा है - दुनिया के किसी भी देश में कैसा भी शासन तंत्र हो उसका चालक वर्ग अंग्रेजी निश्चित ही जानता है, लिख-बोल न सकता हो तब भी समझता तो है ही । दुनिया के सभी विश्वविद्यालयों में समझी जाने वाली भाषा अंग्रेजी ही है और कदाचित एकमात्र ऐसी भाषा है जिसका विभाग हर विश्वविद्यालय में होता है। इस तरह राजनीति के शासक वर्ग की ही नहीं शिक्षा-संस्कृति के शासक वर्गों की भी परस्पर भाषा अंग्रेजी है या होती जा रही है। इस तरह अंग्रेजी विश्व सत्ता की भाषा है। सूरज अब अंग्रेजों के राज में भी डूबता है पर अंग्रेजी के राज में अभी भी नहीं डूबता।

ऐसा क्यों है? इसे जान लेने से हिन्दी की स्थिति को समझने में मदद मिलेगी।

यह सच है कि ऐसा इसलिए संभव हुआ कि औद्योगिक क्रांति और औपनिवेशिक विस्तार में इंगलैंड अग्रणी हो गया। भाषा सत्ता का उपकरण और माध्यम है, वह सशक्तीकरण (empowerment) में चरितार्थ होती है, उसका माध्यम बनती है। इंगलैंड की अर्थिक और राजनैतिक शक्ति ने अंग्रेजी को शक्तिशाली और स्वीकार्य बनाया। पर हमें उपकरण और माध्यम की गुणवत्ता पर भी ध्यान देना चाहिए।

चॉसर से शेक्सपियर तक की यात्रा में अंग्रेजी ने अपनी क्षमता, नम्यता, ग्राह्यता और सृजनशीलता की मानो अनन्त सीमाओं का विस्तार कर लिया। सोलहवीं शताब्दी में ही शेक्सपियर ने छंद का बंधन तोड़ दिया और फ्री वर्स में उत्कृष्ट रचनाएं की, इसलिए नहीं कि वह छंद का निर्वाह नहीं कर सकता था।

सॉनेट जैसे सबसे कठिन छंद में भी शेक्सपियर ने बेहतरीन कविताएं लिखीं। उसने व्याकरण को भी आवश्यकतानुसार मरोड़ कर (मोस्ट अनकाइन्डेस्ट) जैसे डबल सुपरलेटिव लिखने के प्रयोग किए। अंग्रेजी साहित्य - कविता- नाटक - उपन्यास - कहानी - समीक्षा, का ही वाहक नहीं बनी वरन् उसने हर प्रकार के बौद्धिक उद्वेलन-सृजन को अभिव्यक्ति दी। चॉसर, शेक्सपियर, मिल्टन, डिकेन्स, लैम्ब, इलियट और ऑडेन ने ही अंग्रेजी में नहीं रचा बल्कि बेकन, न्यूटन, हॉब्स, लॉक, बर्क, स्पेंसर, चर्चिल और रसेल ने भी अंग्रेजी में ही लिखा। विश्व साहित्य ही नहीं विश्व विचार-संसार को समृद्ध करने में अंग्रेजी का योगदान असाधारण है।

यही नहीं जहां-जहां अंग्रेजों का राज कायम हुआ वहां-वहां की सृजनशीलता की अंग्रेजी में भी अभिव्यक्ति हुई। सभी महाद्वीपों में अंग्रेजी को दिलो-दिमाग की जुबान बना पाना मुमकिन होता गया। रंगभेद के बावजूद अश्वेत और औपनिवेशिक उद्धता के बावजूद भारतीय अंग्रेजी के उत्कृष्ट लेखक बन सके। नाइजीरिया के अश्वेत और भारत के एक औपनिवेशिक "दास" को अंग्रेजी के माध्यम से साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हो सका।

यहीं से हम हिन्दी की प्रकृति और संभावना की ओर मुड़ सकते हैं। हिन्दी सहज रूप से सारे उत्तर भारत की ही नहीं सारे देश में स्वीकार्य होते हुए विकसित हुई और उसे उन लोगों ने भी समृद्ध किया जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल के केशवचन्द्र सेन और गुजरात के दयानंद सरस्वती ने हिन्दी की हिमायत की। बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय आन्दोलन के भाषागत आधार के रूप में सहज ही हिन्दी सारे देश में स्वीकार्य होती गई और इस देश के दो सबसे लोकप्रिय नेताओं महात्मा गांधी और सुभाष चन्द्र बोस ने हिन्दी को अपने सरोकार और सम्प्रेषण की भाषा बना कर स्थापित कर दिया। इस तरह हिन्दी साहित्य संस्कृति की ही नहीं राजनीति की भी वाहक बन गई और यहीं से संकीर्णताओं के "वायरस" को अनुकूल जमीन मिलने लगी।

नीलाद्रि भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है कि जब हम किसी भाषा के माध्यम से अपने को रचते हैं तो हम उस भाषा को भी रचते हैं, उस पर समकालीन राजनीति का असर डालते हुए। पर जब भाषा स्वयं राजनीति का उपकरण बनाई जाने लगे, तब भाषा ही नहीं राजनीति भी विरुपित और विकृत होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में ग्रिअरसन ने लिखा था कि बंगाल से पंजाब तक एक ही भाषा प्रचलित है - हिन्दी, अपनी तमाम बोलियों के साथ। सर सैयद अहमद खां ने उत्तर भारत का व्यापक भ्रमण करने के बाद लिखा था (1869 में) कि हर जगह उन्हें उसी मध्यम भाषा (मिडिल लैंग्वज़) का प्रमाण मिला जिसे कहीं हिन्दी, कहीं उर्दू और कहीं हिन्दुस्तानी कहा जाता था।

1800 में जब कम्पनी बहादुर ने फोर्ट विलियम कलकत्ता में एक कॉलेज स्थपित किया तो उसमें हिन्दी के हिन्दुस्तानी शिक्षक भी नियुक्त हुए। उनमें इंशाउल्ला खां, ठेठ हिन्दी के समर्थक थे, जो बिना अरबी-फारसी या संस्कृत के अतिरेकी प्रभाव के और लल्लू लाल संस्कृत निष्ठ हिन्दी को प्रचलित करना चाहते थे। ये दो तरीके बाद में दो धाराएं बन गई और बाद में साम्प्रदायिक और संकीर्ण राजनीति का उत्प्रेरक और वाहक बनने लगीं। हिन्दी को लेकर यह तर्क विकसित हुआ कि वह संस्कृत के निकट और उर्दू से दूर है। आलोक राय इसे इतिहास और भाषा विज्ञान की दृष्टि से बकवास मानते हैं, पर इससे हुए नुकसान को वास्तविक करार देते हैं। (हिन्दी नेशनलिज्म, ओरिएन्ट लॉंगमैन, 2001)

1947 के बाद जब एक बहुभाषी आज़ाद देश की एक सर्व-स्वीकृत भाषा का प्रश्न उठा जिसमें भारतीय अस्मिता अभिव्यक्त और चरितार्थ हो सके तो आर्थिक-राजनीतिक कारणों से, सांस्कृतिक नहीं, हिन्दी "हिन्दी वालों" की औपनिवेशिकता का प्रतीक बना दी गई और उत्तर-दक्षिण के बीच एक विभाजक रेखा खिंचने लगी। इस तरह अंग्रेजी के स्थायी वर्चस्व की जमीन पुख्ता होती गई। स्वयं उत्तर भारत में हिन्दी भाषी क्षेत्र को काउ बेल्ट (Cow Belt) और बिमारु (BIMARU) जैसे मुहावरों से विभूषित कर उसका पिछड़ापन - या पिछड़ते जानापन, रेखांकित किया जाने लगा। इस तथ्य को नकारना कठिन है पर भाषा के संदर्भ में दो बातें सुस्पष्ट होती गई हैं:

१. हिन्दी (खड़ी बोली) की भोजपुरी, अवधी, हरियाणवी आदि कथित बोलियों के मुकाबले "श्रेष्ठता" चिन्हित की जाती रही है। जैसे गांव का व्यक्ति शहरियों के लिए "गंवार" माना जाता है, उसी प्रकार खड़ी बोली वालों के लिए दूसरी हिन्दी बोलियों वाले भदेस और गंवार ही माने जाते हैं। इस तरह अंग्रेजी जिस तरह सारे देश के अभिजन की भाषा है उसी तरह खड़ी बोली सारे हिन्द क्षेत्र के अभिजन की भाषा है।

2. हिन्दी अभिजन और अंग्रेजी अभिजन के बीच द्वन्द्व के बजाए मिली भगत है। इसे आलोक राय ने बखूबी दिखाया है। हिन्दी अभिजन एम.एन. श्रीनिवास द्वारा विश्लेषित ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया द्वारा अंग्रेजी अभिजन समुदाय में शामिल होने की ऊर्ध्वगामी गति की (अपवर्ड मोबिलटी) उत्प्रेरणा। से चालित-संचालित होता रहता है। इसलिए उसे हिन्दी भाषा और आम हिन्दी भाषी की भाषा सहित किसी भी समस्या से कुछ भी लेना देना नहीं होता। चूंकि इसी अभिजन का सत्ता पर अधिकार है इसलिए 1947 के बाद हिन्दी की उत्तरोत्तर प्रगति की जगह उसकी स्थिति बिगड़ती गई है। इस दौरान हिन्दी की जो प्रगति हुई है वह सरकार और शासक वर्गों की विशेष सहायता के बिना हुई है - बल्कि यह कहना बेहतर होगा कि उसके बावजूद हूई है।

आज जब अशोक बाजपेयी कहते हैं - "सही अर्थों में हिन्दी राजभाषा नहीं बनी बल्कि उसका छद्म किया गया। सत्ता में होने के अनुभव से विपन्न हिन्दी का एक विचित्र रूप विकसित हो गया जो ऐसी खगभाषा है जो हिन्दी के जन और उसके साहित्य दोनों से दूर है। एक अर्थ में हिन्दी का राज तो बढ़ा पर दूसरे अधिक क्षतिकारी अर्थ में उसका समाज संकुचित हो गया। ... साहित्य में भ्रष्ट और अवसरवादी राजनीति, विद्वेषकारी धर्मोन्माद, सर्वग्रासी बाजारियत आदि का प्रतिकार कर पाने की शक्ति और हिम्मत भी आई। दुर्भाग्य से समाज में साहित्य की हैसियत और सिकुड़ी भी। साक्षरता के प्रसार के बावजूद हिन्दी समाज साहित्य और पुस्तकों से मुंहफेरा समाज बना रहा। (सहित, जुलाई 2000)

इस प्रकार हिन्दी संकटग्रस्त होती जा रही है। ऐसे में वैश्वीकरण की चुनौती या तो उसे संत्रस्त कर सकती है या अतिरिक्त ऊर्जा और विवेक का संचार कर न केवल तात्कालिक संकट से उबार सकती है वरन् उसके विकास का मार्ग भी प्रशस्त कर सकती है। इस आशावदिता का आधार है हिन्दी की अंतर्निहित शक्ति और क्षमता। सलमान रुश्दी और वी.एस. नायपाल जैसों के पूर्वाग्रह और "अज्ञान" के बावजूद हिन्दी साहित्य, विशेषकर हिन्दी कविता, दुनिया के श्रेष्ठ साहित्यों में है, अगर कोई वस्तुगत कसौटी हो सकती है तो वह इसी नतीजे पर पहुंचेगी और यह सब केवल एक शताब्दी में संभव हुआ है इसे ध्यान में रखना होगा। "सुख सागर" से 'कामायनी एक पुनर्विचार' तक पहुंचने में सौ साल भी नहीं लगे थे।

इसके अलावा उत्तर भारत के सभी भाषा क्षेत्रों - मैथिली, झारखंडी, भोजपुरी, अवधी, हरियाणवी, छत्तीसगढ़ी और राजस्थानी बोलियों तक सभी क्षेत्रों, के लोगों ने हिन्दी में रचना शुरू किया और सभी क्षेत्रों के मध्य वर्ग की भाषा खड़ी बोली होती गई है।

हिन्दी में इन सभी के साथ अरबी-फारसी तथा संस्कृत के शब्द-पद-मुहावरे शामिल होते गए और अभिव्यक्ति की क्षमता बढ़ाते गये हैं। गैर हिन्दी क्षेत्रों के लेखकों ने उत्कृष्टता के प्रतिमान बनाए हैं। अज्ञेय और मुक्तिबोध हिन्दी के श्रेष्टतम लेखकों की सूची में आते हैं।

मॉरिशस के अभिमन्यु अनत का हिन्दी में लेखन विश्व साहित्य में प्रशंसित हुआ है। इतना ही पर्याप्त होता तो वैश्वीकरण की चुनौती का केवल सकारात्मक प्रभाव पड़ता जैसा कि फ्रेंच, जर्मन, चीनी और जापानी भाषाओं पर पड़ेगा। हिन्दी के सामने संक्रमण की स्थिति पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। निम्नलिखित स्थितियां संक्रमण को संकट बना रही है:

1. पश्चिमी यूरोप की भाषाओं पर लातिन का आधारभूत व्यापक प्रभाव है पर वे - यहां तक कि इतालवी भी जो वास्तव में लातिन से उत्पन्न मानी जाती है, अपनी स्वतंत्र अस्मिता विकसित कर ले गई हैं। हिन्दी को आज भी संस्कृत की बेटी कह कर निर्मूल वैधता प्रदान करने की कोशिश की जाती है।

2. कभी "हिर्दू" या "उर्दी" जैसा नाम गढ़ने की असफल कोशिश के माध्यम से हिन्दी-उर्दू की अंतर्निहित एकता और समानता स्थापित करने की कोशिश की गई थी। हिन्दी-उर्दू को अलग रखने की कोशिशें सफल हुई हैं और हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ और उर्दू को फारसीनिष्ठ ही नहीं, हिन्दी कों हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान और उर्दू को उर्दू-फारसी-मुसलमान, के राजनैतिक विभाजन की ओर ढकेला जाता रहा है। इससे हिन्दी-उर्दू-हिन्दू-मुसलमान सबका नुकसान हुआ है क्योंकि कृत्रिमता सहजता और नैसर्गिकता को वाधित करना गाठें और कुंठाएं पैदा करती हैं।

3. हिन्दी को लेकर सरकारों द्वारा की गई गड़बड़ियों का ब्योरा बहुत लम्बा है। राजभाषा-राष्ट्रभाषा का पचड़ा (देखिए शैलेश मटियानी की पुस्तक "राष्ट्रभाषा का सवाल" 1990), हिन्दी के मानकीकरण की समस्या (याद कीजिए डा० रघुवीर के जमाने से उठी समस्याएं) जिसका अभी तक अंतिम रूप से फैसला नहीं हुआ

है, संसद से लेकर सभी सरकारी विभागों में और सभी राज्यों में - खासतौर पर गैर हिन्दी भाषी राज्यों और दूतावासों में हिन्दी के नाम पर 'सफेद हाथी' जैसी संस्थाएं पालने-पोसने का प्रपन्च आदि ने हिन्दी को एक लाभकारी 'धंधा' बना दिया है जिससे हर धंधे की तरह लोगों का ही लाभ होता रहा है। यह जगजाहिर है कि सरकारी संरक्षण के गलत संचालन ने कुल मिलाकर और अंतत: हिन्दी का फायदे से ज्यादा नुकसान किया है।

4. शिक्षा का माध्यम - प्राथमिक से उच्च शिक्षा तक, मातृभाषा हो यह इतिहास और विज्ञान सम्मत है। पर भारत में यह भी विशेष रूप से उच्च शिक्षा में लागू नहीं हो पाया है। उल्टे धीरे-धीरे 'समर्थ' परिवारों में प्राथमिक शिक्षा भी अंग्रेजी के माध्यम से देने का चलन बढ़ता गया है। इस संदर्भ में भी हिन्दी क्षेत्र पिछड़ता गया है क्योंकि यहां न हिन्दी का समुचित इस्तेमाल हो रहा है न अंग्रेजी का।

5. साहित्येतर क्षेत्र में हिन्दी भाषी क्षेत्र की उत्कृष्ट प्रतिभाएं हिन्दी में नहीं लिखतीं - यहां तक कि जनता की अलमबरदारी का दावा करने वाले भी नहीं। मलयालम, बांगला, मराठी, तेलगु आदि में इतिहास और समाजशास्त्र आदि में ही नहीं विज्ञान में उत्कृष्ट और मौलिक लेखन होता है। हिन्दी में साहित्येतर मौलिक लेखन अपवाद है।

6. अनुवाद हमेशा से आवश्यक रहा है, अब अनिवार्य है। पचासों वर्षों से पश्चिम में बेहतरीन किताबें एक साथ अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन में छपती रही हैं। जाहिर है मूल लेखन इनमें से किसी एक भाषा में होता है और शेष दो में तुरंत ही अनुवाद कर दिया जाता है। भारत में अन्य भाषाओं में जिन पुस्तकों का अनुवाद उपलब्ध है उनका भी हिन्दी अनुवाद उपलब्ध नहीं होता। चीन के नवजागरण के समय लूशुन ने तीन बातों पर विशेष जोर दिया था:

1. मौलिक लेखन

2. सारी दुनिया के श्रेष्ठ और आवश्यक लेखन का अनुवाद

3. युवा लेखन को प्रोत्साहन।

हम गौर करें कि हमारे देश में, विशेष कर हिन्दी क्षेत्र में, ये तीनों ही किस कदर नज़रअंदाज होते रहे हैं। 1947 के पहले सभी बड़े लेखक अनुवाद भी करते

थे। आजाद देश में अनुवाद सरकारी संरक्षण का मोहताज होता गया है और दोयम दर्जे के 'पोषित' अनुवादकों की जमात पैदा हो गई है।

आज बढ़ते वैश्वीकरण के दौर में तो अनुवाद, उत्कृष्ट अनुवाद, अनिवार्य है क्योंकि अनुवाद मानव समाज को वास्तव में एक करने का एक कारगर उपकरण है।

7. किसी भी भाषा में जिस लेखन का सबसे अधिक प्रयोग होता है वह है पाठ्य-पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं। हिन्दी में, कदाचित अन्य भाषाओं में भी, पाठ्य पुस्तकों का एक व्यापक धन्धा ही नहीं, काला धन्धा पनपता गया है जिसे व्यवस्था परोक्ष रूप से और शिक्षा व्यवस्था प्रत्यक्षत: पोसती है।

8. यह सर्व-स्वीकृत तथ्य है कि हिन्दी के समाचार-पत्र दोयम-सोयम दर्जे के होते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भाषायी-पत्रकारिता की सकारात्मक भूमिका थी। पर 1947 के बाद पत्रकारिता का व्यवसायीकरण और 1990 के बाद शुद्ध 'बाजारीकरण' कई तरह से पाठकों के विकास को कुंठित और बाधित कर रहा है। साहित्य-संस्कृति के हित में हिन्दी की लघु-पत्रिकाएं ही निरंतर संघर्षरत रही हैं।

9. सिनेमा - टेलीविजन ने हिन्दी का बहुत भला भी किया है पर यहां हम उसकी नकारात्मक भूमिका का ही जिक्र कर रहे हैं। यह विभ्रम को यथार्थ की तरह प्रस्तुत करने का ही माध्यम है पर हिन्दी सिनेमा टी.वी. जगत तो विभ्रमों का पुंज है। एक ही तथ्य पर गौर करें - वहां के कर्ताधर्ताओं की भाषा प्राय: हिन्दी नहीं होती - यहां तक कि प्राय: मूल स्क्रिप्ट और स्टोरी लाइन अंग्रेजी में लिखी जाती है। सभी प्रमुख कलाकार और निर्देशक अंग्रेजी में बोलते हैं - बोलने की मजबूरी बढ़ती जा रही है, गांव से आने का ढिंढोरा पीटने वाले मनोज बाजपेयी की भी। यह मीडिया मुख्यत: दृश्य (विजुअल) मीडिया है पर भारत में तो वह दृश्य के साथ उतना ही श्रव्य (आडियो) है, बल्कि श्रव्यता का वर्चस्व है। और श्रव्यता का उपकरण तो भाषा ही है। तो क्या भाषागत कृत्रिमता गुणवत्ता को प्रभावित नहीं करेगी?

बहुत विस्तार में जाना संभव नहीं है इसलिए यहां यही कहना पर्याप्त होगा कि कोई भी भाषा शिक्षण-प्रशिक्षण, ज्ञान-विज्ञान, कला-संस्कृति, सृजनशीलता-चिंतन-मनन का जितना ही अधिक समर्थ वाहक बनती है और

उन्हें जितना ही समृद्ध करती है वह स्वयं उतना ही समृद्ध और स्वीकार्य बनती जाती है। उसके लिए नई-नई चुनौतियां उतना ही बड़ा अवसर बनती जाती हैं। उपयुक्त और अनुकूल पर्यावरण और पोषण मिलने पर ऐसी भाषाएं भी विकसित हो जाती हैं जिनके बोलने वाले बहुत थोड़े होते हैं। ऐसा सोवियत यूनियन में संभव हुआ था, मसलन रसूल हमजातोंव के दगिस्तान में जिसकी आबादी ही कुछ लाख थी। हिन्दी तो दुनिया की उन पांच भाषाओं में से है (चीनी, स्पेनिश, अंग्रेजी, रूसी और हिन्दी) जिसे दुनिया की आधी आबादी बोलती है (बहुबचव ३, उदय नारायण सिंह का लेख: भाषा, भाषी, भाषिकी) और पिछले सौ वर्षों में वह अपने सामर्थ्य की दिशा इंगित कर चुकी है।

ऐसी स्थिति के बावजूद वैश्वीकरण के रुबरु हिन्दी की स्थिति में कुछ सकारात्मक प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं:

1. हिन्दी में समीक्षा सबसे कम विकसित विधा रही है। आज हिन्दी साहित्य में समीक्षा और इतिहास को लेकर व्यापक चिंतन-मनन, विचार-विमर्श और लेखन होने लगा है।

2. हिन्दी में साहित्येतर लेखन बढ़ा है और हो रहे लेखन का स्तर ऊंचा हुआ है।

3. अनुवाद पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। समर्थ लोग अनुवाद करने लगे हैं। इसलिए परिमाण और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से अनुवाद की स्थिति पिछले दशक के दौरान बेहतर हुई है।

4. लघु पत्रिकाओं में, विशेषकर पहल, दायित्व बोध, तद्भव, संधान आदि में गंभीर वैचारिकी - मौलिकी और अनुवाद, के प्रकाशन का स्वागत और स्वीकार्यता बढ़ रही है।

5. भारतवर्ष में हिन्दी सिनेमा सबसे संगठक और 'सेक्यूलर' उपकरण रहा है। अब उसकी जापान से अमरीका तक स्वीकार्यता ही नहीं बढ़ी है उसका अनुकरण भी शुरू हुआ है। जिन लोगों ने बम्बई का नाम बदला उन्होंने बॉलीवुड को नकारना जरूरी नहीं समझा क्योंकि बम्बई सिनेमा जगत पर हॉलीवुड का प्रभाव स्वीकार्य था। अब हॉलीवुड में बॉलीवुड की घुसपैठ के लक्षण दिखाई पड़ने लगे हैं।

6. बढ़ते वैश्वीकरण के साथ भारतीय प्रवासियों की संख्या बढ़ी है और

प्रवासियों की हैसियत भी बढ़ी है। एन.आर.आई. भारत में वैश्वीकरण का सबसे प्रत्यक्ष वाहक लगता है और आडियो-वीडियो कसेटों और तथाकथित सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से उसके बीच हिन्दी एक जीवंत कड़ी बन रही है।

7. हिन्दी अब केवल मध्यवर्ग की भाषा नहीं रही। शिक्षा के, परिमाणात्मक ही सही, विस्तार से खड़ी बोली हिन्दी अब गांव-गांव तक पहुंच गई है। सिनेमा, टी.वी. ने उसे गैर हिन्दी प्रदेशों में भी पहुंचाया है। परिमाणात्मक विकास-विस्तार से गुणात्मक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है और यह प्रक्रिया शुरू होती दिखाई दे रही है।

8. इन्टरनेट पर भी हिन्दी स्वीकार्य और लोकप्रिय हो रही है। हिन्दी पत्रकारिता ही नहीं साहित्य भी अब इन्टरनेट के माध्यम से विश्वभर में प्रसारित होने लगा है।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि वैश्वीकरण अर्थव्यवस्था से संस्कृति तक हर क्षेत्र में एक चुनौती और अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में तो एक संकट बन कर उभरता जा रहा है। हर क्षेत्र में प्रतिकार का तरीका आंतरिक उत्पादन और वितरण का पुनर्गठन और बेहतर संपादन तथा वाह्य जगत से समान और न्यायपूर्ण आदान-प्रदान के जोर पर ही बनेगा।

हिन्दी के संदर्भ में वैश्वीकरण एक तरह से "अभी या कभी नहीं" का अवसर प्रस्तुत कर रहा है। हिन्दी को उत्तर भारत की अन्य भाषाओं और उर्दू से अपने को निरंतर समृद्ध करते हुए, भारत की अन्य भाषाओं और अंग्रेजी को बिना प्रतिद्वन्द्वी समझे सह-प्रगति के उद्‌बोधन के साथ, निरंतर अध्ययन-चिंतन-मनन-सृजन की भाषा के रूप में आधुनिकता-बोध और दिशा-बोध से लैस होना पड़ेगा। भारत में राजनीति का नेतृत्व प्राय: आत्म-केन्द्रित और तात्कालिकता से ग्रस्त होकर अविश्वसनीय हो गया है। इसलिए साहित्य-संस्कृति के नेतृत्व को यह समझना होगा कि भाषा सशक्तिकरण और अशक्तिकरण दोनों का माध्यम है। (लैंगवेज, एजूकेशन एण्ड कल्चर: तारिक रहमान)। साथ ही भाषा जनवादीकरण की प्रक्रिया का भी अनिवार्य उपकरण है और भारत में वास्तविक जनतंत्र की स्थापना में जनभाषाओं की निर्णायक भूमिका होगी। इसलिए हिन्दी का भविष्य उसके राजभाषा-राष्ट्रभाषा होने से उतना नहीं जुड़ा है जितना कि उसके जनभाषा होते जाने से।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तथा हिन्दी

रजत शर्मा*

मैं अंग्रेजी समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में रहा इसलिए नहीं कि अंग्रेजी पर मेरा बड़ा भारी "कमांड" था या मुझे अच्छी अंग्रेजी आती थी। मुझे हिन्दी बेहतर आती थी, मैं हिन्दी बेहतर बोल सकता था, हिन्दी ज्यादा अच्छी तरह समझ सकता था। अंग्रेजी में लिखते समय मुझे लगता था कि मैं भाषा पर अत्याचार कर रहा हूं, बोलता था तो लगता था कि यह किसी पराए की बात है जो मुझे हिन्दी में सोचकर अंग्रेजी में कहनी पड़ती है। ऐसा करते-करते 5--7 साल में ऐसा हो गया कि मुझे लगा कि मैं अंग्रेजी का ही आदमी हूँ। सच्चाई यह नहीं थी। मैं हिन्दी छोड़कर अंग्रेजी में इसलिये गया क्योंकि मुझे समाज में ऐसा दिख रहा था कि हिन्दी के पत्रकार की, हिन्दी के अखबार की बात कोई नहीं सुनता। अंग्रेजी का अखबार छोटा हो, उसका पांच हजार का प्रसार हो तो उसको बड़ा सम्मान मिलता है। हिन्दी के अखबार का यदि पांच लाख का भी प्रसार हो तो भी उसके सम्पादक को लोग आदर की निगाह से नहीं देखते हैं। लेकिन धीरे-धीरे मुझे लगा कि प्राइवेट टी.वी. (जी टी. वी.) शुरु होने से स्थिति बदल रही थी। मुझे अखबार छोड़ कर इलेक्ट्रानिक मीडिया में आने का मौका कैसे मिला, यह लम्बी कहानी मैं आपको संक्षेप में बताता हूँ।

एक बार जी टी. वी. के मालिक मेरे साथ हवाई यात्रा कर रहे थे, मेरे साथ एक-दो और लोग भी थे, अभिनेता गुलशन ग्रोवर और एक उद्योगपति थे। उन लोगों से मैं ज्यादा बात कर रहा था क्योंकि जी टी. वी. के बारे मे मेरा विचार यह था कि ये "जंगली तूफान", "टायर पंचर" जैसे प्रोग्राम दिखाते हैं। आपको ध्यान होगा शुरूआत में कुछ ऐसे प्रोग्राम थे। मुझे लगा यह क्या है, मैं

---

* प्रसिद्ध पत्रकार

उनसे बात नहीं करना चाहता था। गुलशन ग्रोवर ने मुझे कहा कि इनसे जरा बात कर लो, इनका नया चैनल शुरू हुआ है। इनसे थोड़ी दोस्ती होगी और मेरा इन्टरव्यू आ जाएगा तो मुझे फायदा होगा। मैंने पूछा, फायदा कैसे होगा ? उसने कहा, इनके चैनल की पहुंच बहुत लोगों तक है और सरकारी दूरदर्शन पर इस तरह के इन्टरव्यू दिखाए नहीं जाते। ये जिस तरह के उल्टे-सीधे प्रोग्राम दिखाते हैं, उनका बड़ा महत्व होता है। इस वजह से मैंने उनसे बात करनी शुरू की। उन्होंने कहा, मैं अखबारों में देखता हूँ कि आप बहुत सारे इन्टरव्यूज करते हैं, तो आप जी टी. वी. पर इन्टरव्यू क्यों नहीं करते ? सम्पादक के अंदर जो एक अहंकार होता है, वह मुझमें था। मैंने उनसे कहा कि आप क्या प्रोग्राम बना रहे हैं कि दो आदमी बैठकर एक दूसरे से बात करें, क्या उसको कोई देखेगा ? आप क्या बेकार बात कर रहे हैं? तो इस पर उन्होंने कहा कि फिर क्या होना चाहिए। मैंने कहा आप "राजनीतिज्ञों" को बुलाइए। उनको कटघरे में बैठाइए और उनकी अच्छी तरह से खिंचाई करिए, तब जाकर लोग देखेंगें, तो उनको मजा आएगा। तब तो कुछ प्रोग्राम बनेगा। ऐसे बहुत देर मैंने उनको सब बातें बताई। अपना बुद्धिवाद उनके उपर अच्छी तरह से झाड़ दिया। यात्रा समाप्त हो गई, हम उतर गए। उसके दो हफ्ते बाद उन्होंने मुझे एक दिन कहा, आपने जो प्रोग्राम सुझाया था, मैंने उसे अपने क्रिएटिव डायरेक्टर से और एडवरटाइजिंग वालों से "डिसकस" किया है, "दे आर वैरी इकसाइटेड विथ दी प्रोग्राम"। मैंने कहा, कैसा प्रोग्राम ? मैंने तो आपसे कोई प्रोग्राम "डिसकस" नहीं किया। तो उन्होंने कहा, वह जो आप कह रहे थे, एक अदालत होनी चाहिए, उसमें "राजनीतिज्ञों" को बुलाना चाहिए। मैंने कहा, साहब, मैं माफी मांगता हूँ, मैंने ऐसे मजाक में बात कह दी थी, "सीरियसली" नहीं। कौन आकर अदालत में बैठेगा। उन्होंने कहा, "नहीं, आप एक बार कोशिश करिए"। ऐसे करते-करते यह शुरूआत हुई। शुरूआत हिन्दी में हुई। मैंने सोचा कि अंग्रेजी छोड़कर यह प्रोग्राम कैसे करेगें, अंग्रेजी में करेंगे तो शायद कोई देखेगा नहीं, हिन्दी में करेंगे तो उसकी पहुंच होगी। गुलशन ग्रोवर की यह बात बार-बार मेरे दिमाग में अटकती थी कि इसकी पहुंच बहुत है। मैंने अपने मन में विश्लेषण किया, बड़े-बड़े अखबार कौन से हैं, *हिन्दुस्तान टाइम्स* की पहुंच कहां तक है, सिर्फ दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता में, *हिन्दुस्तान टाइम्स* का नाम कोई नहीं जानता था। *हिन्दु* दक्षिण का बहुत बड़ा अखबार है लेकिन दिल्ली में उसका नाम कोई

Nehru Memorial Museum
and Library
Acc. No. GI. 7932
Date ....
P152v2 P01
152P2

491.4309
152P2

नहीं जानता था। ~~टेलीग्राफ~~ कलकत्ता में बहुत बड़ा अखबार है लेकिन दिल्ली और बंगलौर में उसे कोई नहीं जानता। डेकन हेरल्ड बंगलौर का बहुत बड़ा अखबार है। लेकिन मुझे लगा कि टी. वी. में, इलेक्ट्रोनिक मीडिया में, पहुंच सचमुच ज्यादा है, हम ज्यादा लोगों तक पहुंच सकेंगे। अब जब कार्यक्रम शुरू किया तो पहला प्रोग्राम ही हिन्दी पर किया। मैंने मार्क टली को उस प्रोग्राम में बुलाया। मेरे सवालों के जवाब में मार्क टली हिन्दी में बोल रहे थे और अंग्रेज हिन्दी बोल रहा था तो सबको उनकी बातें सुनकर बहुत रोमांच हो रहा था। मैंने उनसे पूछा कि कभी ऐसे क्षण भी आएं हैं कि आपको हिन्दी बोलने में शर्मिंदगी महसूस हुई हो? उन्होंने कहा, नहीं, मुझे शर्म तब आती है जब मैं इस देश के नेताओं से हिन्दी में सवाल पूछता हूं और वे उसका जवाब अंग्रेजी में देते हैं। वे बार-बार मुझसे अंग्रेजी में बात करने की कोशिश करते हैं, वे सोचते हैं कि मैं उनसे हिन्दी इसलिए बोल रहा हूं कि उनको अंग्रेजी नहीं आती। यह त्रासदी जो प्रोग्राम करने में मुझे आती है, उनकी भी थी, लेकिन धीरे-धीरे इस देश के दर्शकों की मदद से, हिन्दी बोलने-समझने वाले लोगों की मदद से, एक ऐसी प्रतिष्ठा मिली, एक ऐसी स्थिति बनी कि हिन्दी के कार्यक्रम में आना, लोगों को अच्छा लगने लगा। उनको लगा उससे उनकी पहुंच होती है। टी.एन. शेषन जब कार्यक्रम में आए तो वह हिन्दी बोलने वाले नहीं थे, लेकिन टी.एन. शेषन ने पूरे प्रोग्राम में "एफर्ट" करके हिन्दी बोली। बाद में उन्होंने कहा कि मुझे लगता है कि हिन्दी बोलने से मैं ज्यादा लोगों तक अपनी बात पहुंचा सकता हूं। जो लोग अंग्रेजी बोलते हैं जैसे जी. के. मूपनार है, जो हिन्दी बिलकुल नहीं बोल सकते थे उनसे मैं कोशिश यह करता था कि मै हिन्दी में ही सवाल करूं, मैं पूछता गया, वे अंग्रेजी में जवाब देते गए, और जो भी वह बोलते थे उसका थोड़ा बहुत अनुवाद करके मैं समझाता गया। कई बार ऐसे अनुभव हुए, शाहरूख खान जैसे फिल्म स्टार आए, शाहरूख खान आमतौर पर "कनवरसेशन" में अंग्रेजी बोलते हैं, लेकिन प्रोग्राम शुरू हुआ तो उन्होंने हिन्दी में बोलना शुरू किया। शाहरूख के बारे में आपको यह बता दूं कि वह उन लोगों में से थे जिन्होंने आकर कभी यह नहीं पूछा कि आप मेरे से क्या पूछेंगे, थोड़ा पहले से "ब्रीफ" कर दीजिए। श्रोताओं में से किसी ने अंग्रेजी में सवाल पूछा कि "हू इज नम्बर वन"। उन्होंने कहा, "अरे, मैं हूं न"। तो मैंने कहा, साहब आजकल तो लोग कहते हैं अमिताभ बच्चन नम्बर वन हैं, तो उन्होंने पूछा, वह कौन है? तो मैने कहा, शाहरूख साहब, हमारे शास्त्रों

में कहा गया है: *विद्या ददाति विनयं विनयाधाति पात्रताम्। पात्रत्वाद्धनमाप्नोती धनाद् धर्म ततः सुखम्*। इससे पहले कि मैं उसका अनुवाद करके बताता, उन्होंने कहा, थैंक्यू सेम टू यू। अब इससे अच्छी हाजिर जवाबी नहीं हो सकती। उनको कुछ समझ नहीं आया था कि मैनें क्या कहा था। इस कार्यक्रम में मैंने हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू का ऐसा मिश्रण देखा और संतुष्टि यह थी कि यह कार्यक्रम लोग देख रहे थे और उसको समझ रहे थे। मुझे कभी यह महसूस नहीं हुआ कि मुझे हिन्दी थोपने की जरूरत है। मुझे कभी इस बात की जरूरत नहीं महसूस हुई कि इसमें कुछ क्लिष्ट भाषा का इस्तेमाल करने की जरूरत है। अब एक स्थिति ऐसी आ गई कि यह तय किया गया कि हम "जी न्यूज' के नाम से एक पहला प्राइवेट न्यूज बुलिटन आरम्भ करें, हिन्दी में सिर्फ दूरदर्शन पर समाचार थे तो हमने तय किया कि जी टी.वी. पर भी समाचार होने चाहिए। उससे पहले जैसा मैंने बताया कि वह केवल "गेम शो'' और फिल्म वाला चैनल था। आपकी अदालत के प्रोग्राम से लगा कि इसमें समाचार (करंट अफेअर्स) को सम्मान मिलता है। उस समय एक ऐसी बात हुई जिससे बहुत तकलीफ हुई। जिस समय हमने न्यूज चैनल आरम्भ करने का फैसला किया, ठीक उसी समय जी टी.वी. ने लंदन में अपना एक चैनल शुरू किया। लंदन में एक "एटीसन'' चैनल था उसको खरीद लिया गया और उसका नाम बदल कर जी टी.वी. रख दिया गया। वहां पर समाचार शुरू करने की बात कैसे शुरू हुई, यह भी आपको बता दूं। मुझे लंदन भेजा गया और वहां जो न्यूज बुलेटिन चलता था उसको देखने के लिए कहा गया। ज्यादातर जो वहां न्यूज बुलेटिन करते थे, वे सब पाकिस्तानी थे और "न्यूज रूम" में उस समय उनकी प्रधानमंत्री बेनजीर भुट्टो की बहुत बड़ी तस्वीर लगी हुई थी। सारी न्यूज का झुकाव प्रो- पाकिस्तानी था। मुझे यह जिम्मेदारी दी गई कि मुझे इसे ठीक करना है। वहां जैसे ही मैंने उन लोगों से यह बात की कि यह चैनल ज्यादातर भारत में देखा जाता है और जी न्यूज का मतलब भारतीय समाचार है, तो हम पाकिस्तान भी दिखाएंगे, लेकिन संतुलन के साथ। तभी यह खबर लंदन से निकलने वाले एक जंक अखबार में छप गई कि इसमें अब प्रो-इंडिया समाचार दिए जाएंगे, पाकिस्तानियों को निकाल दिया जाएगा। उस समय हमने यह तय किया कि अब वहां बैठकर उस कार्यक्रम को तैयार करना सम्भव नहीं है। हमने यह तय किया कि उस विभाग को बन्द कर दिया जाए और लंदन भेजे जाने वाले समाचार दिल्ली में तैयार किए जाएं जिसका

हम अनुवाद करेंगे और वही न्यूज बुलेटिन दिल्ली में भी दिखाया जाएगा। पहली मार्च को पहला बुलेटिन लंदन में शुरू हुआ, और लंदन के लिए न्यूज बुलेटिन तैयार करते समय हिन्दी और भाषा का सवाल उठा। हमारे पास दो ही रास्ते थे, या तो अंग्रेजी में न्यूज बुलेटिन करें या हिन्दी में। मैंने जब वहां के लोगों से बात की तो उन्होंने कहा कि ऐसी भाषा में करिए जो हमारी समझ में आ जाए। मैंने फिर अपनी तरफ से एक कोड बनाया, जिसमें हमारे जो कॉपी डेस्क के लोग थे, उनसे मैंने कहा कि आप प्रधान मंत्री न कह कर "प्राइम मिनिस्टर" कह दीजिए, मुख्य मंत्री न कह कर "चीफ मिनिस्टर" कह दीजिए, भूतल परिवहन मंत्री न कह कर "सरफेस ट्रांसपोर्ट मिनिस्टर" कह दीजिए। संविधान न कह कर "कांस्टीट्यूशन" कह दीजिए। यह लंदन में दिखाना था इसलिए मजबूरी थी। बाद में जब यह दिल्ली में शुरू हुआ तो उसमें भी उसी तरह की भाषा का इस्तेमाल होने लगा और मुझे लगा कि यह बात चल रही है।

अब सवाल यह कि क्यों ऐसी भाषा रखी गई थी, यह किसी को मालूम नहीं था, इसलिए बहुत से हिन्दी विद्वानों, पत्रकारों और अखबार वालों ने इस पर यह कह कर प्रहार किया कि इनको हिन्दी ठीक से नहीं आती है इसलिए इन्होंने "हिंग्लिश" शुरू कर दी है। पर असल में मुझे अंग्रेजी ठीक से नहीं आती थी और मैंने उनको यह बताने की कोशिश भी की, किन्तु उन्हें समझ नहीं आया। इसकी प्रतिक्रिया में एक अखबार के सम्पादक ने काफी बड़ा लेख लिख डाला कि कैसे अंग्रेजी के शब्दों का इस्तेमाल किया जा रहा है। मेरा सौभाग्य था जिस दिन वह लेख छपा, उसी दिन के उनके तीन सौ शब्दों के सम्पादकीय में करीब तेरह अंग्रेजी के शब्दों का इस्तेमाल किया गया। मैंने उन सब पर लाल पेन से गोले लगाए और उनको भेज दिया। मैंने लिखा कि जब आप अपने हिन्दी के अखबार के सम्पादकीय में अंग्रेजी के शब्द इस्तेमाल कर सकते हैं तो मैं प्रोग्राम में क्यों नहीं कर सकता? समाचारों में क्यों नही कर सकता? धीरे-धीरे कुछ लोगों ने इसकी प्रशंसा की, कुछ लोगों ने कहा कि यह भाषा को अपभ्रंश करने की कोशिश कर रहे हैं। यह तय करना आप लोगों का काम है कि यह हमारी कमी थी या उसमें कोई लाभ हुआ। मूल बात यह है कि कम से कम लंदन, तमिलनाडू तथा आंध्र प्रदेश जैसी जगहों में लोग हिन्दी का प्राइवेट न्यूज बुलेटिन देखने लगे। उनको वह पराया नहीं लगा। जब जयललिता को मैंने "आपकी अदालत" कार्यक्रम में बुलाया, तो कार्यक्रम

में आने से पहले मैंने उनसे चर्चा की। वह इतनी अच्छी और इतनी सहज हिन्दी बोलती हैं, लेकिन जब प्रोग्राम में आई तो 15 मिनट पहले उन्होंने मुझे कहा कि मैं आपके सभी प्रश्नों का उत्तर अंग्रेजी में दूंगी। मैंने कहा, क्यों? तो वह बोली कि यह मुझे 'पोलीटिकली सूट' नहीं करता। मैं तमिलनाडु की नेता हूं और मैं हिन्दी में बोलूंगी तो मेरा बैंड बज जाएगा। लेकिन उनको मैंने सिर्फ इतना निवेदन किया कि बीच में दो-चार बातें आप हिन्दी में बोल दें ताकि हिन्दी वालों को भी लगे कि हां, आप हिन्दी बोल सकती हैं। उन्होंने बीच-बीच में सहज, सुलभ हिन्दी बोली और काफी हिन्दी बोली, लोगों का अच्छा लगा।

कुल मिलाकर मैं यह कहना चाहता हूं कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में मुद्दा यह नहीं था कि हम किस तरह की भाषा बोलें। बल्कि सिर्फ हिन्दी के माध्यम से लोगों तक अपनी बात पहुंचा सकें, यह एक बड़ा प्रयास करना था। मैं आपको यह भी बताउं कि जब पहला प्रोग्राम करना था उस समय जो प्रोड्यूसर्स थे उन लोगों ने मुझे कहा कि अगर आप कुर्ता-पाजामा पहन कर हिन्दी बोलेंगे तो आप बिल्कुल पागल लगेंगे। आप सूट पहन कर हिन्दी बोलेंगे तो आपकी बात पर लोग ज्यादा यकीन करेंगे। यह त्रासदी है। इसको मैंने पहचाना और उन लोगों की यह बात बाद में सच साबित हुई। सूट पहन कर, टाई लगाकर हिन्दी बोलते हैं, तो लोगों को उस बात का ज्यादा यकीन होता है। वे सोचते हैं कि शायद इस आदमी को अग्रेंजी भी आती है लेकिन मजबूरी में हिन्दी बोल रहा है।

मुझसे पहले जो वक्ता बोल रहे थे, उन्होंने ऐसा चित्रण किया था कि जैसे हिन्दी बहुत पिट रही है, हिन्दी बहुत गरीब हो गई है, हिन्दी खत्म होने वाली है। मैं उनसे विनम्र निवेदन करना चाहता हूं कि यह ठीक नहीं है। मुझे लगता है कि जो लोग अंग्रेजी वाले हैं, उनको भी हिन्दी बोलने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है और खासतौर पर "इलेक्ट्रॉनिक मीडिया" में। "हू वांट्स टू बी ए मिलेनिअर'', यहाँ पर अंग्रेजी में नहीं दिखाया जा रहा, "कौन बनेगा करोड़पति'' बना कर दिखाया जा रहा है और उसमें जो भाषा अमिताभ बच्चन इस्तेमाल कर रहे हैं, वह अंग्रेजी भाषा का अनुवाद है। जब वह आखिर में कहते हैं कि "आप अपना ख्याल रखें'' यह "प्लीज टेक केअर ऑफ योर सैल्फ''का हिन्दी अनुवाद है। उन्होंने ईजाद करने की कोशिश नहीं की। वह इसलिए कि वे चाहते नहीं। वह बहुत अच्छी हिन्दी बोल सकते हैं, बहुत गुणी हैं, लेकिन उनको प्रोग्राम का एक फारमेट दे दिया गया था और लंदन

में जाकर उनको ट्रेनिंग लेनी पड़ी। उनको बताया गया कि आपको यह बोलना है, इस तरह से पेश करना है, यह सेट होगा, यह डिजाइन होगा। वे इधर-उधर नहीं जा सकते थे। यह ऐसा प्रोग्राम है जो कि "लाइसेंस्ड" है।

इसी तरह आप देख लीजिए "आज तक" को छोड़ कर किसी न्यूज चैनल का नाम हिन्दी में नहीं है। "जी" न्यूज है, "स्टार" न्यूज है, "डी डी न्यूज" है, दूरदर्शन का "डी डी" कर दिया है। जब हिन्दी जैसे समाचार कार्यक्रम जैसे, "करेंट अफेअर्स" जो आपकी अदालत से शुरू हुआ था, एडवरटाइजरों ने आगे आकर 'स्पोंसर' करना शुरू किया। जब उन्होंनें देखा कि इस भाषा के माध्यम से ज्यादा लोगों तक पहुंचा है। इससे लोग इलेक्ट्रानिक मीडिया में जो कर रहे थे उनकी पूछ बढ़ी, वे ज्यादा पैसे कमा सके। यह एक समृद्वि की निशानी है।

इसलिए मुझे लगता है कि हिन्दी का जो भविष्य है, वह इलेक्ट्रानिक मीडिया के माध्यम से असुरक्षित नहीं हुआ, बल्कि और ज्यादा मजबूत हुआ है, मैं आपको बहुत ईमानदारी से बता रहा हूं। अंग्रेजी के बहुत बड़े-बड़े पत्रकार हैं जोकि टी.वी. में "ऐंकर" बने हुए हैं, वे टी.वी. के प्रोग्राम करते हैं और अच्छे प्रोग्राम करते हैं। उनकी प्रतिभा हम लोगों से कहीं ज्यादा है, लेकिन उनको इस बात की बहुत तकलीफ होती है कि उनका सड़क पर लोग उतना नहीं पहचानते जितना हिन्दी वालों को पहचानते हैं। वे कहते हैं कि यार कभी हिन्दी के प्रोग्राम में मौका दिया करो। मेरे एक मित्र हैं, उनका मैं नाम ले सकता हूं, सैय्यद नकवी, बहुत अच्छी हिन्दी बोलते हैं, बहुत अच्छी उर्दू बोलते हैं, बहुत अच्छी अंग्रेजी बोलते हैं और अंग्रेजी के प्रोग्राम करते हैं, वह बार-बार मुझे कहते हैं, यार, बस मुझे किसी तरह हिन्दी के प्रोग्राम में फिट करवा दो। वह बहुत वर्षों से अंग्रेजी के प्रोग्राम कर रहे हैं। लेकिन वह मानते हैं कि हिन्दी के कार्यक्रम की ज्यादा पहुंच है।

मुझसे पहले वाले वक्ता ने एक और बात कही थी, हालांकि मेरी बात से सम्बद्ध नहीं है लेकिन असल में मैं समाचार का आदमी हूं, मुझसे बरदाश्त नहीं हो रहा, इसलिए मैं कहना चाहता हूं, उन्होंने कहा कि प्रधानमंत्री ने कई साल पहले नौ करोड़ रूपये खर्च करके यूनाइटेड नेशन्स में हिन्दी बोली थी, मुझे मालूम नहीं, यह "फिगर" कहां से आई? हिन्दी बोलने के लिए नौ करोड़ रूपया

खर्च करने की जरूरत नहीं थी। यह असल में गलत है और उन्होंने कहा इस बार उन्होंने हिन्दी नहीं बोली। इस बार हिन्दी बोली, फिर उनको किसी ने ठीक किया तो उन्होंने कहा कि प्रेस कान्फरेंस करते हैं, उसमें हिन्दी नहीं बोलते। तो ज्यादा लोगों को यह बात शायद सुनाई नहीं दी थी। सच यह है कि इस बार दस दिन सोवियत यूनियन, अमेरिका और लंदन में तीनों जगह प्रधानमंत्री ने जितने भाषण दिए, वह हिन्दी में थे, चाहे वह प्रवासी भारतीयों को ही सम्बन्धित क्यों न किये गये हों। जार्ज बुश से तो शायद उन्होंने हिन्दी में बात नहीं की होगी, लेकिन यू.एन.ओ. में जो बोला, वह हिन्दी में था, और जितनी प्रेस कान्फरेंस की वहां अंग्रेजी सवालों के जवाब उन्होंने हिन्दी में ही दिए। यह इसलिए कि शायद उनको यह बात समझ में आ गई कि जब-जब वह अंग्रेजी बोलने की कोशिश करते हैं तो कम-से-कम टी.वी. पर बहुत खराब लगते हैं। वह बरदाश्त के बाहर होता है और इस बात का मुझे हमेशा दुख रहता है कि जो लोग हिन्दी अच्छी बोलते हैं, जिन लोगों के बोलने से लगता है कि अच्छी हिन्दी है, जिससे हिन्दी को सम्मान मिलता है, मन को अच्छा लगता है, ऐसे लोग जब अंग्रेजी का लिखा हुआ भाषण पढ़ते हैं तो वहां जो श्रोता हैं, उस पर तो "टार्चर" होता ही है, उसे अनुवाद करने में हमें भी बहुत तकलीफ होती है। अच्छी हिन्दी बोलने वाले अंग्रेजी में बोलें तो फिर हमें उसके उपर किसी और की आवाज को "सुपरइंपोज" करना पड़ता है। बहुत सारे लोगों ने इस विधा को समझा है, मणिशंकर अय्यर की तारीफ करना चाहता हूं, अंग्रेजी वाले हैं, लेकिन जब वह देखते हैं कि मौका हिन्दी के प्रोग्राम का है तो बहुत अच्छी हिन्दी बोलते हैं। बहुत सारे दक्षिण भारतीय लोग ऐसे हैं, जिन्होंने हिन्दी सीखी है, हिन्दी बोलने की कोशिश करते हैं।

मेरा कहना इतना है कि हिन्दी के लिए अस्तित्व का सवाल नहीं है, अस्तित्व तो है ही, समृद्धि का सवाल नहीं है, समृद्धि भी बनी है, और बनेगी, हिन्दी के लिए सिर्फ एक सवाल है अस्मिता का। हिन्दी बोलने वाले, हिन्दी पढ़ने वाले, हिन्दी लिखने वाले, जब तक अपने आपको गरीब, फटेहाल मानते रहेंगे, तब तक हिन्दी का सम्मान नहीं होगा, हिन्दी का विकास नहीं होगा। हम अपना मान रखें, अपना सम्मान रखे, अपनी ताकत मानें और यह मानें कि हिन्दी चाहे अखबार में हो, चाहे इलेक्ट्रानिक मीडिया में हो, यह सम्मान की भाषा है, बुद्धिजीवियों की भाषा है। राजभाषा का जिक्र किया गया तो मुझे इस बात का बड़ा आश्चर्य हुआ कि हिन्दी राजभाषा समिति गृह मंत्रालय के अन्तर्गत है, जिसके अंदर आमतौर

पर पुलिस होती है। इसका हिन्दी से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी अचंभे की बात यह पता चली कि सरकार का जो क्राइसेस मैनेजमेंट डिपार्टमेंट है, वह कृषि मंत्रालय के अन्तर्गत है। लेकिन इस तरह के विरोधाभास जो सरकारी तंत्र में है, बेहतर है, हम उनको भूल जाएं। हिन्दी को सम्मान और समृद्धि देने के लिए कई माध्यम उपलब्ध हैं, जैसे अखबार, रेडियो, दूरदर्शन। इतना सब कुछ उपलब्ध है, हम लोग उसका इस्तेमाल करें और अंत में मेरा सबसे यही निवेदन है कि अगर मैंने अपने कहने में कुछ गलती की हो, आपके बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में खरा न उतरा होऊं तो मुझे क्षमा करेंगे।

प्रिंट मीडिया में हिन्दी

आलोक मेहता*

इलेक्ट्रानिक समाचार माध्यमों की क्रांति के बावजूद हाल के वर्षों में प्रिंट मीडिया का महत्व बढ़ता ही गया है। वैश्वीकरण के कारण हिन्दी के अखबारों का महत्व कम होने की आशंका भी कुछ वर्षों पहले की जा रही थी। लेकिन हाल के वर्षों में हिन्दी के समाचार पत्रों की प्रसार संख्या जितनी तेजी से बढ़ी है और विज्ञापन से होने वाली आय में जितने गुना बढ़ोतरी हुई है, वह इस बात का प्रमाण है कि भारत में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए इच्छुक अंतर्राष्ट्रीय कम्पनियां हिन्दी अखबारों का सहारा ले रही हैं। हिन्दी के अखबारों की प्रसार संख्या लगभग डेढ़ करोड़ हो चुकी है, जबकि अंग्रेजी के अखबारों की कुल प्रसार संख्या लगभग 40 लाख ही है। हिन्दी अखबारों की छपाई भी अंग्रेजी के अखबारों से कमतर नहीं कही जा सकती। आधुनिक टेक्नालॉजी का सबसे अधिक उपयोग हिन्दी के अखबार ही कर रहे हैं, क्योंकि उत्तर भारत में ऐसे अनेक हिन्दी अखबार हैं जिनके 15 से 20 संस्करण निकल रहे हैं। फिर इन संस्करणों के जिला परिशिष्ट अलग से होते हैं। प्रिंट मीडिया में हिन्दी के समक्ष एक चुनौती अवश्य है कि हिन्दी के कुछ अखबार अंग्रेजी अखबारों से बंधे हुए हैं। ऐसे में हिन्दी का अखबार या उससे जुड़े कुछ पत्रकार हीन भावना से ग्रस्त रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि उनकी प्रतिष्ठा हिन्दी भाषा के व्यापक प्रभाव की प्रतिष्ठा से जुड़ी हुई है। जब प्रतिष्ठा का भाव नहीं रहता है तो भाषा का विकास अवरुद्ध हो जाता है। भाषा की अभिव्यंजना शिथिल होने लगती है।

हिन्दी पाठकों की अभिरुचि सीमित नहीं है। उसे अपने गांव, कस्बे के साथ

*सम्पादक, *दैनिक भास्कर*

पूरी दुनिया को समझने की उतनी क्षमता है, जितनी कि किसी अन्य भाषा के अखबार के पाठक की होती है। सच तो यह है कि हिन्दी का पाठक अधिकाधिक सामग्री चाहता है। अंग्रेजी के पाठकों के लिए अंग्रेजी अखबारों के साथ कमप्यूटर से जुड़ी हुई सुविधाएं भी हैं। हिन्दी पाठकों का बड़ा वर्ग आज भी प्रकाशित सामग्री पर ही निर्भर है। हिन्दी अखबारों की प्रसार संख्या इसलिए भी बढ़ी है, क्योंकि प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ी है और साक्षरता भी बढ़ती गई है। हिन्दी अखबारों के पत्रकारों के पास साधन सीमित हैं, लेकिन यदि सही ढंग से अखबारों का विश्लेषण किया जाए तो निष्कर्ष यही निकलेगा कि अंग्रेजी अखबारों की अपेक्षा हिन्दी के अखबार जमीन से जुड़ी हुई समस्याओं को सही ढंग से उजागर करते हैं। भ्रष्टाचार के वातावरण में क्षेत्रीय अखबारों के संवाददाता कहीं कुछ प्रतिशत भले ही भ्रष्ट हुए हों, लेकिन बहुत बड़ी संख्या ऐसे पत्रकारों की है जो न्यूनतम वेतन में अधिकाधिक समर्पित भाव से काम कर रहे हैं। दिल्ली और मुंबई में पत्रकारों को उतने खतरे नहीं हैं, जितने बिहार, उत्तर प्रदेश या राजस्थान जैसे राज्यों में काम करने वाले हिन्दी पत्रकारों को झेलने पड़ते हैं।

पिछले वर्षों के दौरान हिन्दी पत्रकारिता में अच्छी पत्रिकाएं अवश्य कम हुई हैं। हिन्दी पत्रिकाओं की अकाल मृत्यु दुर्भाग्य का विषय है। हिन्दी पत्रिकाओं के लिए विज्ञापन मुश्किल से मिलते हैं। उसका एक बड़ा कारण यह भी है कि विज्ञापन की दुनिया में हिन्दी के लोग कम पहुंचे हैं। हिन्दी पत्रकारिता को सशक्त करने के लिए विज्ञापन और प्रसार के क्षेत्र में हिन्दी से जुड़े लोगों को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। हिन्दी पत्रकारिता का स्वर्णिम युग तभी आएगा, जबकि अंग्रेजी अखबारों के मुकाबले इसकी आमदनी अधिक होगी। अंग्रेजी पत्रकारिता की तुलना में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के अखबार इस देश से ज्यादा गहराई से जुड़े हुए हैं। इसकी सांस्कृतिक और बौद्धिक जड़ें अधिक गहरी और मजबूत हैं। वे जिस स्तर पर पाठकों का ध्यान रखते हैं, वह अंग्रेजी पत्रकारिता कभी नहीं कर सकती है। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भाषाई पत्रकारिता के समक्ष जो चुनौतियां हैं उनका सामना करने के लिए कोई संगठित या सामूहिक तैयारी कहीं नहीं दिखाई देती। हिन्दी भाषी प्रदेशों में ही नहीं, अहिंदी भाषी राज्यों में भी हिन्दी के अखबार चल रहे है। महाराष्ट्र, गुजरात, असम, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में भी हिन्दी

के अखबारों की अच्छी-खासी प्रसार संख्या इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी के अखबार हर क्षेत्र में चल सकते हैं। इसका सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार पाठकों के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी पत्रों के लिए एक बड़ा खतरा यह अवश्य है कि कई संस्थानों के प्रबंधक अंग्रेजी अखबार को आदर्श मानकर चलते हैं। और बाजार की मांग के नाम पर अधिकाधिक हल्की-फुल्की सामग्री देना आवश्यक मानते हैं। केवल फिल्म, फैशन या सेक्स संबंधी सामग्री से पाठक प्रसन्न होगा, यह केवल गलतफहमी ही हो सकती है। टैबलाइड अखबार और अंग्रेजी अखबारों के प्रभाव से हिन्दी प्रिंट मीडिया को बचाने के लिए सही दृष्टि वाले पत्रकारों को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। कहीं-न-कहीं कोई लक्ष्मण रेखा खींचनी होगी। विश्व के श्रेष्ठतम कहे जाने वाले अंग्रेजी के अखबारों ने भी बाजार के समक्ष समर्पण के चक्कर में गंभीर वैचारिक सामग्री को कम नहीं किया। भारत जैसे देश में प्रिंट मीडिया सामाजिक जागरूकता के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। यह ठीक है कि आजादी की लड़ाई की तरह पत्रकारिता अब मिशन नहीं रह गई है, लेकिन पेशेवर पत्रकारिता में तो यह और भी जरुरी है कि पाठकों के हितों की रक्षा की जाए।

वैश्वीकरणः भाषा और मीडिया

मधुकर उपाध्याय*

मैं अपनी बात करीब तीस हज़ार की आबादी वाले उत्तर प्रदेश के छोटे से कस्बे अयोध्या से शुरू करना चाहता हूं जहां आज़ादी के नौ साल बाद मेरा जन्म हुआ था। मेरी लगभग पूरी पढ़ाई-लिखाई वहीं हुई और वहीं मैने काम करना शुरू किया। उस समय कस्बे में दसवीं जमात तक का एक विद्यालय, दो माध्यमिक विद्यालय और पांच प्राथमिक विद्यालय थे। इनके अलावा वहां संस्कृत के तीन महाविद्यालय थे लेकिन उनकी समाज में कोई बड़ी भूमिका नहीं थी। मैंने इन शिक्षा संस्थाओं का जिस तरह उल्लेख किया है, उनका नाम कस्बे में उस रूप में नहीं लिया जाता था। स्थानीय लोग प्राथमिक विद्यालयों को 'प्राइमरी पाठशाला', माध्यमिक विद्यालयों को 'मिडिल स्कूल' और दसवीं तक की पढ़ाई के एकमात्र केंद्र को 'महाराजा हाईस्कूल' कहते थे। 'प्राथमिक' और 'माध्यमिक' जैसे शब्द अनपढ़ स्थानीय लोगों तक के लिए 'विदेशी' थे और उन्हें 'प्राइमरी' या 'मिडिल स्कूल' बोलना सहज लगता था।

शिक्षा से जुड़े इन शब्दों के अलावा लगभग पूरा अयोध्या, उसके आसपास के गांव, मंदिर, मस्जिद, पंडित, पुरोहित, पंडे और उसका बाज़ार अवधी बोलता था। हिन्दू धार्मिक आस्था का एक प्रमुख केंद्र होने और देश भर से श्रद्धालुओं की निरंतर आवा-जाही के बावजूद अयोध्या का बाज़ार केवल मेले के दिनों में, और जरूरी होने पर ही, हिन्दी खड़ी बोली का इस्तेमाल करता था। मेरे घर में सभी शिक्षित थे लेकिन सब अवधी बोलते थे। ढोर-डांगर अवधी में दिए गए निर्देश समझते थे। प्यार, घृणा, गुस्सा और बहस अवधी में होती थी। अवधी में इन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त शब्द थे और मैंने किसी को

*संपादक, *भाषा*

भी अवधी के अलावा कुछ बोलते नहीं सुना। आखिर अवधी वही भाषा थी जिसमें गोस्वामी तुलसीदास ने पांच सौ साल पहले महाकाव्य 'राम-चरितमानस' की रचना की थी।

उस समय के अयोध्या में इसका एकमात्र अपवाद शिक्षण संस्थाएं थीं जिनकी चहारदीवारी में घुसते ही अध्यापक और छात्र खड़ी बोली हिन्दी बोलने लगते थे। सारी किताबें खड़ी बोली हिन्दी में होती थीं और कापी में प्रश्नों के उत्तर खड़ी बोली में लिखना नम्बर पाने की विवशता थी। उस समय और आज भी यह मुझे चमत्कार सा लगता है कि स्कूल में खड़ी बोली बोलने वाले सारे लोग छुट्टी की घंटी बजते ही अवधी बोलने लगते थे। यह संभव नहीं दिखता कि इसके लिए कोई दिशा-निर्देश जारी किया गया हो लेकिन अवधारणा के रूप में और अवचेतन में इतना बिल्कुल स्पष्ट था कि औपचारिक तथा आधुनिक शिक्षा अवधी में नहीं हो सकती थी और इसके लिए आपको अपनी जड़ों से कटना ही था।

करीब पैंतालीस साल बाद मैं अभी हाल में अयोध्या गया। उसका नक्शा थोड़ा बदला हुआ था और शिक्षा के क्षेत्र में उसकी शक्ल काफी बदल गयी थी। अब वहां अंग्रेजी माध्यम के दस से ज्यादा नर्सरी स्कूल थे, लड़कियों का एक अलग स्कूल था और मेरा अपना 'महाराजा हाईस्कूल' इंटर कॉलेज बन चुका था। वहीं मेरी मुलाक़ात बचपन के अपने एक मित्र से हुई जिनकी बेटी ने मां-बाप के कहने पर मुझसे 'शेक हैंड' किया और एक के बाद एक ताबड़तोड़ तीन कविताएं सुनाई जो उसने स्कूल में सीखी थीं 'बाबा ब्लैक शीप' 'ट्विंकल,ट्विंकल लिटिल स्टार' और 'रिगां रिगां रोज़ेज़'। उसे हिन्दी की गिनती नहीं आती थी। इकतालीस को उसने अपने पिता से पूछकर 'फाटीवन' समझा और तब उसे पता चला कि हम कितने साल पहले स्कूल में एक साथ पढ़ते थे। इस बात पर लड़की के 'मम्मी-पापा' हंस पड़े कि उनकी बेटी को हिन्दी नहीं आती लेकिन उनके मन में इस बात का कोई मलाल नहीं था।

अपनी जड़ों से कटकर हम कितनी दूर जा सकते हैं? भले ही इसकी शुरूआत अपनी बोली से कटने से हुई हो। आप उस अनपढ़ रिक्शेवाले को क्या कहेंगे जो कभी स्कूल नहीं गया और ज़ाहिर है, विश्वविद्यालय नहीं जानता लेकिन आपको 'इनवरसीटी' ले जाने को तैयार हो जाता है। इसे जानने के

लिए साम्राज्यवाद और उसके औपनिवेशिक तथा नव-औपनिवेशिक चरणों को समझना ज़रूरी होगा। उन ताक़तों के स्वार्थों और हितों को सही ढंग से परिभाषित करना होगा। अज़ादी की लड़ाई के नए अर्थ ढूंढ़ने होंगे और यह देखना होगा कि चौवन साल पहले अंग्रेजों के चले जाने के बावजूद उनकी भाषा, संस्कृति और मूल्य, विकृत रूप में ही सही, यहां क्यों कायम है तथा अपनी भाषा और संस्कृति हमें हेय और हीन क्यों लगती है। क्या वैश्वीकरण उसी औपनिवेशिक दृष्टिकोण की अगली कड़ी है और उसका उद्देश्य भी वही है जो कभी औपनिवेशिक ताक़तों का था?

वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी को समझने के लिए इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जानना और पूरे घटनाक्रम को सिलसिलेवार देखना ज़रूरी है। इस संदर्भ में यह समझ लेना भी आवश्यक है कि वैश्वीकरण कोई सर्वथा नयी और अनूठी अवधारणा नहीं है और न ही इसमें कोई ऐसा चमत्कारिक गुण है जो जादू की छड़ी घुमाकर दुनिया को परीलोक में बदल देगा। इसके लिए यह भी समझना होगा कि औपनिवेशिक काल से लेकर आज तक कुछ देशों का नक्शा और कुछ की सामाजिक स्थितियां थोड़ी-बहुत बदली हैं लेकिन एक चीज़ बिल्कुल नहीं बदली है। वह है भाषा के प्रति साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी मानसिकता वाले देशों की दृष्टि।

साम्राज्यवादियों, विस्तारवादियों और औपनिवेशिक ताक़तों के दिलों में भाषा को हमेशा एक हथियार की तरह इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति रही है जिसका मुख्य कारण शायद यह सोच है कि अपनी भाषा छिन जाने पर व्यक्ति और समाज बेज़ुबान हो जाएंगे। शासन स्वयं भाषा के बिना नहीं चल सकता इसलिए स्थानीय भाषा छीनने के बाद लोगों को एक नयी भाषा दी जाती है जो विजेता की भाषा होती है। यह दिमागों के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का एक हिस्सा है जो उपनिवेश खत्म होने और मुल्कों के आज़ाद होने के बाद भी चलती रहती है और अपनी जड़ें जमाती जाती है। भारत सहित एशिया और अफ्रीका के तमाम देशों को दूसरे उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। इन देशों में औपनिवेशिक ताक़तों के चले जाने के बाद यह मान लेने की प्रवृत्ति बढ़ी है कि शासित और शासक की भाषा एक नहीं हो सकती इसलिए बेहतर शासन के हित में उनका एक-दूसरे से अलग होना निहायत ज़रूरी है।

अपनी भाषा थोपने के अलावा मानसिक उपनिवेश तैयार करने का एक तरीका समाजों को उनकी मूल भाषा का मज़ाक उड़ाकर, उसे हास्यास्पद बताकर उससे काट देना है। इसे प्राय: भाषा विकास के रूप में परिभाषित किया जाता है और इसी परिभाषा की वजह से उन्हीं समाजों के लिए इस परिवर्तन को स्वीकार कर लेना आसान हो जाता है, जिनकी भाषा छीनी जा रही है। इसके पक्ष में समर्थन और तर्क उसी भाषा समाज के अंदर से आते हैं जिन्हें ख़ारिज करना आसान नहीं होता। यह एक ऐसा हमला होता है जिसमें आक्रमण से पहले विरोधी टीम खेल के नियम बदल देती है। आप पर हमले हो रहे होते हैं और आप नए नियमों से दो-चार होते हैं, भाषा की बारीकियां सीख रहे होते हैं। चूंकि भाषा संस्कृति और शिक्षा की वाहक होती है इसलिए भाषा के साथ वह सब भी अस्त-व्यस्त हो जाता है और पूरा समाज अनपढ़, ज़ाहिल और गंवार साबित कर दिया जाता है।

इसे भारत के संदर्भ में देखिए। 1857 की पहली क्रांति के बाद अंग्रेज़ शासकों को यह अहसास हो गया था कि भारत में ज्यादा दिन टिके रहना अब उनके लिए संभव नहीं होगा। अपने को बचाए और बनाए रखने के लिए भारत की भाषिक विविधता को समझना अनिवार्य था ताकि उसे ख़त्म करना आसान हो सके। यह वही दौर था जब दिल्ली के आसपास के ढाई ज़िलों की भाषा को प्रचारित-प्रसारित करने के प्रयास चल रहे थे। खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू में अलग-अलग किताबें लिखी जा रही थीं। उस दौर की इतिहास की एक मोटी किताब मैंने देखी है जिसमें उर्दू का एक भी शब्द नहीं है बल्कि सहज-स्वीकार्य शब्दों की जगह संस्कृत से ली गयी दुरूह पदावली है। ऐसा ही उर्दू के साथ भी हुआ या किया गया कि वह अरबी-फारसी की ओर चली गयी।

इस पूरी स्थिति को पलटकर देखिए। अगर स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान देश की सभी साढ़े चार-पांच सौ भाषाओं में आज़ादी समर्थक गीत लिखे जा रहे होते तो उन पर नियंत्रण कितना मुश्किल होता। उन सबको समझने के लिए उनका अंग्रेजी तर्जुमा करना पड़ता। इसमें कितने विशेषज्ञ लगते और उसमें कितना समय लगाना पड़ता। इसमें भी 'नुआंसेज़', के छूट जाने का डर लगातार बना रहता और यह डर भी रहता कि पता नहीं उन रचनाओं का प्रभाव कितना व्यापक और गहरा है। मानकीकृत भाषा ने यह मुश्किल आसान कर दी थी। यह भाषा इन समाजों के लिए नयी थी और समाज खुद उन्हें

सीखने की प्रक्रिया में था। उन पर पकड़ रखना आसान था। कल्पना कीजिए कि अगर फोर्ट विलियम न होता, भाषा गढ़ने की कोशिशें न होतीं, हिन्दी-उर्दू को बांटा न गया होता और समाज भाषा के स्तर पर अपनी जड़ों से न कटा होता, तो क्या होता? उस स्थिति में रचनाएं लोगों की भाषा-बोली में होती, सब तक पहुँचती, ग्राह्य होती और संभव था कि आज़ादी तीस-चालीस-पचास साल पहले मिल जाती।

अफ्रीकी उपन्यासकार न्गुगी वा थ्योंगो ने अपनी किताब 'डिकालोनाइज़िंग दि माइंड' में लिखा है कि भाषा व्यापक जन समुदाय की सामूहिक स्मृति का कोष है और यह दोनों पक्ष अविभाज्य हैं। इसका अर्थ यह भी है कि आपकी भाषा गयी तो साथ ही सामूहिक स्मृति की भी बलि हो गयी। स्थानीय भाषाओं और बोलियों का जैसा दमन उत्तर भारत में हुआ, वैसा अन्य स्थानों पर नहीं हुआ। यह विचार प्रधान क्षेत्र था और इसलिए उसकी भाषाओं- अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मगही, बघेली, बुंदेलखंडी या मेवाड़ी का दमन करना और इन भाषाओं द्वारा संचालित संस्कृति और इतिहास को कूड़ेदान में डाल देना सबसे ज़रूरी समझा गया होगा। थ्योंगो का कहना है कि गुलाम बनाने का दूसरा तरीका विजेता की भाषा को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना होता है, जिसके ज़रिए भारत में अंग्रेज़ी का प्रसार हुआ। इस प्रक्रिया में, बाहरी विजेताओं के साथ स्थानीय 'विजेताओं' की भी एक फौज खड़ी हो गयी जो अंग्रेजी जानती थी। उनसे एक नयी भाषा तैयार करने की कोशिश में मदद मिली। इस पूरी प्रक्रिया का घोषित और अघोषित उद्देश्य एक नयी भाषा को जन्म देना था जिसमें वह कामयाब रहा। इसने समाज को एक नया आईना पकड़ा दिया ताकि वह खुद को, और अपने आक्रान्ताओं को, उसी में देखे और अपने ढंग से चीज़ों को देखने का स्वाभाविक तरीका छोड़ दे। इसमें औपनिवेशिक ताकतों के व्यापारिक हित भी शामिल थे और समाज ने बाज़ार को भी भाषा के उसी नए चश्मे से देखा।

एक तरह से कहें तो पिछली शताब्दी, बाज़ार पर आधारित शताब्दी रही है। बाज़ार न उसे बनाया, बाज़ार ने सजाया-संवारा और जब ज़रूरत महसूस हुई तो उसे उजाड़ा। मोटे अनाज से लेकर हथियार तक। यह बाज़ार किसी भी चीज़ का हो सकता था और यह समाज, सत्ता और संवेदना। तीनों को नियंत्रित करता रहा। उसने मोह, आस्था, संस्कार, नफरत, तिरस्कार, आशा

और विश्वास जैसी प्राथमिक अनुभूतियों के अर्थ बदल दिए। उसने सौ साल तक लगातार हथौड़े की तरह आम सोच पर चोट करते हुए इन नए अर्थों को इतना रूढ़ कर दिया कि तब तक भोथरे हो चुके दिमागों ने विकल्पों की तलाश छोड़ दी और उन्हें बिना तर्क बाज़ार के ख़ास अर्थों में स्वीकार कर लिया।

यह हथौड़ा संप्रेषण के दूसरे सशक्ततम माध्यम भाषा पर भी गिरा। बाज़ार के लिए ऐसा करना सिर्फ़ विविधता से उत्पन्न जटिलताओं से मुक्ति पाना नहीं था। इसकी कई और वजहें थी जिनकी जड़ें मानसिकता और अर्थव्यवस्था से जुड़ी थीं। उनका उद्देश्य केवल इतना था कि बाज़ार का विस्तार हो और माल की खपत हो। इसको भारत के संदर्भ में आसानी से समझा जा सकता है। डेढ़-दो सौ वर्ष पहले के भारतीय समाज की कल्पना करिए और सोचिए कि उसमें कपड़ों-गहनों से लेकर भोजन और रहन-सहन तक कितनी विविधता थी। कपड़े खड्डी में बनते थे और यह संभव नहीं था कि कपड़े के कोई दो टुकड़े एक जैसे हो जाएं। यही स्थिति गहनों और खानपान की भी थी। हर व्यक्ति अपने आप में अनूठा था और समाज इस वैविध्य तथा अनूठेपन को स्वीकार करता था। यह बात बड़े पैमाने पर एक जैसी दिखने-लगने वाली वस्तुओं का उत्पादन करने वाले बाज़ार के बरखिलाफ है। उसकी सफलता की परिभाषा में यह बिल्कुल उल्टा है इसलिए उसे इस परिभाषा, सोच और मानसिकता पर हमला करना ही था।

बाज़ार को भाषायी वैविध्य एकदम इसी तरह न सही लेकिन बहुत कुछ इसी तरह अपने रास्ते का रोंड़ा लगा होगा। दो सदी पूर्व तक दुनिया में दस हज़ार से अधिक जीवित भाषाएं थीं और समाज उनके सहारे अपनी बात कहता था। बाज़ार के लिए यह बहुत कठिन था कि वह हज़ारों की संख्या में मौजूद भाषा-समाजों को एक ही बात समझाए। यह उसके हित में था कि भाषाओं की संख्या कम हो, उनमें एकरूपता हो और भिन्न भाषा-समाज अस्मिता, संस्कार और मानसिकता को भाषा से जोड़ना बंद कर दें। दूसरे शब्दों में वे उससे कट जाएं और इससे दुखी होने की जगह यह महसूस करें कि अपनी जड़ों से कट जाना उनके लिए नितांत आवश्यक था अन्यथा उन्हें आगे जाने के सारे रास्ते बंद मिलते।

कैनबरा स्थित आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के एक अध्ययन के

अनुसार इस समय दुनिया में 6,800 जीवित भाषाएं है। लेकिन उन्हें बोलने वालों की संख्या एक समान नहीं है। इसमें से 750 भाषाएं लुप्त होने के कगार पर हैं और कई अन्य भाषाओं के बोलने वालों की संख्या कम हो रही है। लुप्त भाषा को परिभाषित करते हुए विश्वविद्यालय ने माना है कि जिस भाषा में फर्राटे से बोलने वाले युवा लोग अपने मूल भाषा समूह का दस प्रतिशत रह जाएं उसे लुप्त प्राय और जिसे सिर्फ गिने-चुने बूढ़े बोलें उसे लुप्त कहा जा सकता है। सवाल यह नहीं है कि दुनिया को इतनी सारी भाषाओं की ज़रूरत है या नहीं। असली सवाल यह है कि भाषाएं गयी तो उनके साथ पूरी संस्कृतियां भी चली जाएंगी इसलिए उन्हें बचाया जाना चाहिए। भारत ने पिछले सौ वर्षों में 337 में से 16 भाषाएं खो दी हैं जिनमें से कई मसलन आका कोरा, जेरू, तुरुंग, आकर, बाली और अपुसीकवार को तो हम आज नाम से भी नहीं जानते क्योंकि अब उन्हें बोलने वाला कोई नहीं है।

भाषा संस्कृति के संचार का साधन है तथा उसके राजनीतिक, सामाजिक और भावनात्मक पहलू होते हैं। यह बात दुनिया के उन पचास प्रतिशत लोगों की समझ में नहीं आती जो सिर्फ पांच भाषाएं बोलते हैं। आंकड़ों के हिसाब से 45 फी-सदी लोग सौ भाषाएं बोलते है और बाकी की छह हज़ार से ज्यादा भाषाएं पांच प्रतिशत लोगों में विभाजित हैं। बाज़ार भाषा को केवल संचार के माध्यम के रूप में देखता है इसलिए उसे अधिक भाषाओं से दिक्कत होती है। अगर पूरी दुनिया एक ही भाषा बोलती तो बाज़ार का काम आसान हो जाता वैसे उसे 95 प्रतिशत आबादी की 105 भाषाओं से भी उतनी परेशानी नहीं है। अगर है तो उन छह हज़ार भाषाओं से जिन तक उसकी पहुंच नहीं हो पा रही है। यह भाषाएं बोलने वालों की संख्या तीस करोड़ से ऊपर है जो बाज़ार की दृष्टि से मामूली संख्या नहीं है। उसके लिए यह तीस करोड़ जोड़ी जूतों या तीस करोड़ पतलूनों या घड़ियों जैसी संख्या है जिसकी वह कभी उपेक्षा नहीं कर सकता।

पिछली सदी में स्थितियों में थोड़ा परिवर्तन आया। बीसवीं सदी के मध्य तक दुनिया से उपनिवेशवाद की जड़ें क़रीब-क़रीब उखड़ गयी थीं और उन ताक़तो को अपना अस्तित्व बचाने के लिए शुद्ध बाज़ार का सहारा लेने पर विवश होना पड़ा। जनता की संपत्ति पर नियंत्रण का इन ताक़तों के मूल उद्देश्य में कोई परिवर्तन नहीं आया लेकिन इसके औज़ार बदल गए। इन राजनीतिक

परिवर्तनों के बाद अपना प्रभुत्व क़ायम करने के लिए सैनिक विजय या राजनीतिक नियंत्रण जैसे हथियार कारगर नहीं रह गए। ऐसे में मानसिक प्रभुत्व सबसे प्रमुख हो गया और भाषा की भूमिका और बड़ी हो गयी। भारत में अंग्रेजों ने अपनी भाषा को विकसित भाषा के रूप में प्रस्तुत करने की जो शुरूआत की थी उसमें जन-संस्कृति के महत्व को कम करके आंकने की प्रवृत्ति निहित थी। वे बिरवा रोप चुके थे और ज़रूरत सिर्फ इस बात की थी कि उसे पनपने-फूलने-फलने का मौका मिल जाए।

इसमें देश के मात्र दो या तीन प्रतिशत अंग्रेजीदां कुलीन लोगों का भी हित था कि अंग्रेज़ी बनी रहे ताकि गुलाम मानसिकता स्वतंत्र भारतीय विचार लेकर न खड़ी हो जाए। मेरे मित्र और जाने माने मीडियाकर्मी मार्क टली कहते हैं कि कुलीन लोगों की 'प्यारी अंग्रेजी को सबसे ज़्यादा ख़तरा हिन्दी से है इसलिए उन्हें हिन्दी से नफरत है।' हिन्दी दुनिया में सबसे ज्यादा बोली जाने वाली पांच भाषाओं में से एक है लेकिन चंद कुलीनों के आधिपत्य ने उसकी हालत अपने घर में कैदी की तरह कर रखी है। अंग्रेजी का ज्ञान हासिल करने में कोई गड़बड़ी नहीं है लेकिन इसमें व्याप्त कुलीनता के दंभ में जरूर गड़बड़ी है जो अन्य भाषाओं को नीचा देखती है और अंत में खुद जड़विहीन हो जाती है।

न्गुगी वा थ्योंगो ने कीनिया और उपन्यासकार चीनुता अचेले ने नाइजीरिया में अंग्रेजी के प्रभाव के बारे में लिखते हुए लगभग एक जैसी टिप्पणी की है कि वहां साहित्य का मतलब मोटे तौर पर अंग्रेज़ी साहित्य है। इसके बावजूद दोनों स्वीकार करते हैं कि उनका साहित्य जनता से कटा हुआ है। एन. कृष्णास्वामी और टी. श्रीरामन ने भारत के बारे में लिखा है 'जो लोग अंग्रेजी जानते हैं उन्हें भारतीय साहित्य की जानकारी नहीं है और जो भारतीय साहित्य के पंडित हैं वह अंग्रेज़ी में अपनी बात नहीं कह पाते।' इन सभी बयानों का अर्थ एक ही है कि अपने प्रभुत्व के बावजूद अंग्रेज़ी जड़विहीन वटवृक्ष है जो स्वयं अस्थिर है लेकिन उसके साए में कोई और भाषा ठीक से पनप भी नहीं सकती।

भाषा के साथ जुड़ा एक और विषय है रोज़गार का। रोज़गार भाषा के उत्थान का एक बड़ा कारण रहा है और रोज़गार का अभाव उसके पतन का। उर्दू का उदाहरण हमारे सामने है जो न सिर्फ़ नाम से बल्कि हक़ीक़त में बाज़ार से उपजी और जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर पनपी, बढ़ी। वह लोगों की

भाषा थी जिसके बारे में शायर मीर तक़ी मीर ने कहा था कि उर्दू किताबें पढ़ने से नहीं, जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर नाक रगड़ने से आती है। उस उर्दू में बाज़ार और रोज़गार दोनों की संभावनाएं थी। जब तक यह संभावनाएं बनी रहीं, उर्दू का परचम लहराता रहा। लेकिन रोज़गार की संभावनाएं खत्म हुईं तो जैसे सब कुछ खत्म हो गया। आज उर्दू की हालत अस्पताल में पड़े दूसरे दर्जे के नागरिक जैसी है जिसे बार-बार सरकारी मदद के इंजेक्शन की राह देखनी पड़ती है। इसके लिए कुछ हद तक उर्दू वालों को और उससे कुछ ज़्यादा सरकार को दोषी ठहराया जा सकता है पर निष्पक्ष होकर देखें तो यह बाज़ार का दबाव और प्रभाव है जिसने उसे हाशिए पर ला खड़ा किया है। हिन्दी की हालत दयनीय है लेकिन वह शायद इसलिए हाशिए पर नहीं है कि उसके बोलने वालों की संख्या बहुत ज्यादा है और बाज़ार को उसमें व्यापक संभवनाएं दिखाई देती हैं।

वैश्वीकरण की ताक़तों ने भाषाओं का बाज़ार बहुत सोच-समझकर खड़ा किया। इसके लिए उन्होंने मनोवैज्ञानिक हिंसा का सहारा लिया जो अंततः भौतिक हिंसा से ज्यादा ख़तरनाक और उसका प्रभाव ज़्यादा टिकाऊ साबित हुआ। भाषा के ज़रिए की गयी हिंसा ऊपरी तौर पर अतिविनम्र, सौम्य और सदाशयतापूर्ण थी। इसी फ़रेब में आकर भौतिक हिंसा से आहत शरीरों की आत्माएं उस ओर झुक गयीं। वह ताकतें एक ओर हथियारों के दम पर भौतिक जीत हासिल कर रही थीं और दूसरी ओर स्कूल खोलकर लोगों को बता रही थीं कि वे अनपढ़, ज़ाहिल और गंवार हैं। इसका उद्देश्य स्पष्ट था कि इससे लोगों में दीन-हीन होने की भावना बैठ जाएगी और वे उत्पीड़क की भाषा और ज्ञान के सामने हाथ बांधकर, सिर झुकाए खड़े रहेंगे।

हिन्दी को दूसरे दर्जे की भाषा और हिन्दी भाषी लोगों को दूसरे दर्जे का नागरिक साबित करने के बाद उन्हीं शासक-व्यापारियों ने अतिशय उदारता का परिचय देते हुए इस वर्ग को सभागार में सबसे पीछे की पंक्ति में खड़े होने की अनुमति दे दी। घाव पर मरहम लगाने जैसे इस प्रयास को स्वीकार इसलिए किया गया कि इससे रोज़गार के दरवाज़े खुलते थे। विजेता की भाषा को योग्यता और बुद्धिमता की भाषा स्वीकार करने वाले सभाओं का आत्मसमर्पण नयी घटना नहीं थी। अंग्रेज शासकों ने यह प्रयोग केवल भारत में नहीं किया। वे जहां गए, मामूली से फेरबदल के साथ उन्होंने यही किया। इसका पहला

प्रयोग वे अपने ही इलाके में वेल्टा और आयरिश भाषाओं के साथ कर चुके थे। अपने इस ख़तरनाक मनोवैज्ञानिक युद्ध में मिली कामयाबी से उनके हौसले बुलंद थे जिसने न केवल आयरिश लोगों की भाषा नष्ट की बल्कि उन्हें मानसिक रूप से गुलाम बना दिया। भारत में जब रेलों के विस्तार की योजना बनी तो पटरियां बिछाने के लिए ज्यादातर मज़दूर आयरलैंड से लाए गए और जब उन्होंने भारत में बस जाने के लिए जमीन मांगी तो हुक्मरानों ने इससे साफ़ इनकार कर दिया।

बीसवीं सदी में, वैज्ञानिक प्रगति और ख़ासतौर पर संचार के क्षेत्र में आए क्रांतिकारी परिवर्तनों ने भाषा को अपने ढंग से छुआ और प्रभावित किया। ऐसा होना लाज़िमी था। कई देशों ने इसे रोकने और कई ने शुतुरमुर्ग की तरह गर्दन ज़मीन में गड़ाकर इसके न होने की कल्पना की हालांकि ज़रूरत इस बात की थी कि संचार क्रांति के हल्ले में परदे के पीछे चल रही प्रवृत्तियों को देखा जाए और अंदरूनी ताकत के आधार पर उसका मुक़ाबला किया जाए। इस दौर में कुछ देशों ने समाचारों के साथ मनोरंजन को भी नियंत्रित करना शुरू कर दिया। दूसरे विश्व युद्ध के बाद के दो-तीन दशक तक बी.बी.सी. की विश्वसनीयता की ओट में सर्वोपरि बने रहे ब्रिटेन को अमरीका ने दूसरे स्थान पर धकेल दिया और अखबार, रेडियो, टेलीविज़न, केबल तथा सेटेलाइट के ज़रिए दुनिया भर में अपनी सीधी पहुंच कायम कर ली। इसकी विश्वसनीयता बनाए रखने तथा स्थानीयता का पुट डालने के लिए बाज़ार की संभावना वाले देशों की लड़कियों को एक के बाद एक विश्व सुंदरियों के ताज पहना दिए गए। इसके पीछे बाज़ार के विस्तार की इच्छा और मानसिक गुलामी को पुख्ता करने का प्रयास साफ़ देखा जा सकता है।

संचार क्रांति का पहला बड़ा प्रयोग अखबारो में हुआ। एक ज़माने तक खबरें लोगों तक पहुँचाने पर उनका एकाधिकार था जिसे नब्बे के दशक में सेटेलाइट टेलीविजन चैनलों ने तोड़ा। अब अखबारों के लिए एकमात्र रास्ता विचारों का वाहक बनने का रह गया है जो एक तरह से नवउपनिवेशवादी शक्तियों के हित में है क्योंकि वे चलती-फिरती-बोलती तस्वीरों से दिमागों को पहले ही रौंद चुके होते हैं। हिन्दी को अंग्रेजी का पिछलग्गू बनाना भी इसी प्रक्रिया का हिस्सा है जहां हिन्दी अखबरों के नाम अंग्रेजी में होने लगे हैं और इस पर कोई मुखर आपत्ति नहीं होती। दो प्रतिशत लोगों की भाषा मानसिक

रूप से साठ प्रतिशत लोगों की भाषा पर शासन करती है। यह ठीक वैसा ही है जैसा उन्नीसवीं सदी के अंत में मालाबार के कलेक्टर विलियम लोगन ने एक सर्वे के बाद लिखा था कि मालाबार में करीब साढ़े तीन लाख नायर हैं और डेढ़ हज़ार नंबूदिरी लेकिन सत्ता नंबूदिरी लोगों के हाथ में है और नायर लोग विरोध तक नहीं करते।

इसके बाद रेडियो आया जिसने हिन्दी का प्रसार किया लेकिन साथ ही उसे पंगु भी बनाया। रेडियो एक नया माध्यम था और उसकी पहुँच अखबारों से कई गुना ज्यादा थी इसलिए उस पर नियंत्रण की ज़रूरत ज्यादा शिद्दत से महसूस की गयी। उसे निजी हाथों मे नहीं जाने दिया गया। इसमें बड़े पूंजी निवेश और सरकारी अनुमति की आवश्यकता थी जिसे हासिल करना, पचहत्तर साल बाद, अब तक मुश्किल है। रेडियो ने स्थानीय भाषाओं का सहारा लेकर लोगों तक अपनी सीधी पहुंच बनायी लेकिन विचारों पर अपनी लगाम उसने कभी ढीली नहीं होने दी। समाचारों और विचारों पर नियंत्रण के लिए अंग्रेजी राज में यह नियम बनाए गए थे कि सब कुछ पहले अंग्रेजी में लिखा जाएगा और फिर भारतीय भाषाओं में उसका अनुवाद होगा। यह नियम अब भी लागू है और इसी का परिणाम है कि अंग्रेजी में अपना हाथ तंग होने की बात स्वीकार कर चुके प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी का हिन्दी भाषण अंग्रेजी में अनुवादित होकर ख़बर बनता है और तब उसका हिन्दी अनुवाद होता है।

टेलीविजन संभवत: भाषाओं के सबसे बड़े शत्रु के रूप में आया। वह व्याकरण को अपना दुश्मन मानता है। मुझे याद है कि बी.बी.सी., लंदन में टेलीविज़न लेखन पर एक कार्यशाला में कहा गया था 'लेट ग्रामर गो फार ए सिक्स।' ग्रामर को गोली मारिए, तस्वीरों के सहारे अपनी बात कहिए। भारत और हिन्दी के संदर्भ में हिज्जों की गलतियां तक क्षम्य मान ली जाती हैं। रेडियो और टेलीविज़न में उच्चारण काफी महत्वपूर्ण होता है लेकिन दुर्भाग्य से हिन्दी में ग़लत उच्चारण आदर्श-मानक बन जाता है। 'नमस्कार' को 'नमश्कार' शायद आप कभी नहीं लिखेंगे पर यदि आपका स्टार समाचार वाचक 'नमश्कार' कहेगा तो आप प्रतिवाद नहीं करेंगे बल्कि उसका अनुसरण करेंगे। टेलीविज़न के बाद आए इंटरनेट ने भाषाओं पर नए किस्म का हमला किया। इसके प्रभाव दूरगामी और व्यापक थे क्योंकि उसके लिए भौगोलिक सीमाओं का कोई अर्थ नहीं है। इंटरनेट भाषा के प्रसार और उत्कर्ष का

माध्यम हो सकता है लेकिन उसी में उसके पतन के कारण भी निहित है जो विदेशी भाषा जाने बिना उसके उपयोग की राह दुरूह कर देते हैं। रेडियो, टेलीविज़न और इंटरनेट में कम शब्दों में अपनी बात कहने की जो शुरूआत की है वह सभी भाषाओं के लिए घातक हो सकता है। संभव है कि इसका अंत विश्व में एक या उससे अधिक ऐसी भाषाओं के जन्म के रूप में हो जिनका अभी तक कोई अस्तित्व नहीं है। इसके लिए नया व्याकरण पढ़ना पड़ेगा।

भाषाओं और शब्दों के संक्षिप्तीकरण का सारा दोष इन माध्यमों का ही नहीं है। यह प्रक्रिया औद्योगीकरण के साथ-साथ प्रारंभ हो गयी थी, जिसका विस्तार अब हुआ है। अमरीकी भाषाविद् नॉम चाम्सकी इसे एक उदाहरण देकर समझाते हैं जब आप किसी से 'लाल गेंद' 'नीली कोठी' या 'पीला चाँद' कहते हैं तो सुनने वाला व्यक्ति उसे वही मान लेता है। सवाल नहीं पूछता। कहने वाला व्यक्ति यह नहीं कहता कि गेंद की सिर्फ ऊपरी सतह लाल है, कोठी की बाहरी दीवारों का रंग नीला है या चांद दूर से पीला दिखाई देता है, लेकिन उसका आशय यही होता है। यह प्रश्न कहने-सुनने वालों के बीच समाप्त हो गया है। यह जानते हुए भी कि गेंद अंदर से शायद लाल न हो, मकान के अंदर की दीवारों का रंग कुछ और हो और चांद की सतह पीली न हो आप अनजान बने रहते हैं। यह एक खतरनाक स्थिति है जिसमें बातों को आशय के आधार पर समझा जाता है, उनके सही अर्थ के आधार पर नहीं।

वाक्यों के अलावा शब्दों का भी कुछ ऐसा ही हश्र हुआ है। अलंकार भाषा से गायब हो रहा है ओर एक से अधिक अर्थ वाले शब्द शब्दकोशों से लुप्त हो रहे हैं। कहावतें गायब हो रही हैं क्योंकि वे लोकजीवन से आती थीं, जो अपनी विविधता की वजह से बाज़र को रास नहीं आता। आधुनिक हिन्दी-लेखन-बाज़ार में ऐसे शब्दों का इस्तेमाल नहीं के बराबर मिलता है जिनके दोहरे, तिहरे अर्थ होते हों। विज्ञान और बाज़ार शब्दों के तालमेल के आधार पर काम नहीं करते। उनके लिए शब्दों और उनके अर्थों का साफ-साफ होना बहुत ज़रूरी है। शब्द उनके लिए एक उत्पाद हैं जिसका अर्थ और प्रयोग- दोनों निश्चित है। इसके कुछ अपवाद हैं लेकिन हैरानी की बात यह है कि ये अपवाद भी बाज़ार से प्रेरित हैं। घड़ी के विज्ञापन को 'हर पल, हर घड़ी, आपका इंतज़ार' कहना इसका एक उदाहरण है जिसका उद्देश्य, जाहिर है, उस तबके तक पहुंचना है जो घड़ी और इस मुहावरे का इस्तेमाल करता है।

इन इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ दीजिए तो आप पाएंगे कि हमारी दुनिया ने पिछले दो सौ वर्षों में सैकड़ों की संख्या में भाषाएं और लाखों की तादाद में शब्द खो दिए हैं। ये शब्द किताबों और बोलचाल के आलावा स्मृति से भी ओझल हो गए हैं। उत्तर भारत की बोलियों पर काम करते हुए मैंने करीब दस हज़ार ऐसे शब्द इकट्ठा किए थे जो डेढ़-दो सौ साल पहले तक बोलचाल और सहित्य में धड़ल्ले से इस्तेमाल होते थे। आज उनका कोई नामलेवा नहीं है वैसे ये शब्द पूरी तरह लुप्त नहीं हुए हैं और इन्हे ब्रिटेन के कुछ पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों और इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी में बंद शब्दकोशों में देखा जा सकता है। इसी में एक शब्द है 'आंकू' जिसका अर्थ है आंकने वाला। बाढ़ या सूखे से हुए नुकसान का जायजा लेने भेजे गए दल को 'आकू दल' कहा जाता था। यह बाद में किसी समय बदलकर दरूह और अंग्रेजी से प्रभावित शब्द 'सर्वेक्षणकर्ता' बन गया। सवाल यह उठता है कि संस्कृत के शब्द 'अंकन' के अपभ्रंश से बने 'आंकू' के होते 'सर्वेक्षणकर्ता' की क्या ज़रूरत थी? एक सवाल यह भी है कि 'आंकू' हिन्दी में लौट क्यों नही सकता?

विश्व बाज़ार और भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण के इस दौर में हिन्दी का मूल संसार शायद और सिमटेगा। उस पर हमले और बढ़ेंगे। हालांकि बाज़ार की प्रबल संभावना वाली हिन्दी भाषा के नष्ट या विलुप्त होने का खतरा लगभग नहीं है पर यह हो सकता है कि उसकी जड़ें कमज़ोर हो जाएं। ऐसे में अन्य विश्व भाषाओं से शब्द लेना उसकी विवशता बन सकती है जो अंतत: उसका स्वरूप इस हद तक बदल देगी कि उसकी शिनाख्त मुश्किल हो जाएगी।

भाषाओं पर चोट तथा समाज और उसकी मानसिकता पर हमले का यह खेल वैश्वीकरण की ताक़तों के लिए नया नहीं है। उनका यह खेल उपनिवेशवाद, मानसिक उपनिवेशवाद, औद्योगीकरण और नवउपनिवेशवाद के दौर में लगातार चलता रहा है। यही खेल वैश्वीकरण के नाम पर अब खेला जा रहा है। ज़ाहिर है, हिन्दी को पूरी तरह वैश्वीकरण के हिमायती वर्ग के हवाले कर देने का अर्थ इसके अस्तित्व को एक अपरिभाषित खतरे की ओर धकेलना है। यह तय है कि हिन्दी भाषा और उसे बोलने वालों की जिजीविषा उसे मरने नहीं देगी लेकिन इसके लिए उसे पहले अपनी ढुलमुल मानसिकता, दुविधा, अस्पष्ट चिंतन और तनावपूर्ण मन: स्थितियों से मुक्ति पानी होगी। इसका एक रास्ता अपनी जड़ों और अपनी बोलियों की ओर वापसी है। अगर हिन्दी भाषा अस्मिता का अपना

फर्ज़ी लबादा उतार फेंके और बोलियों की ओर लौटकर उनके साथ चलना शुरू करे तो वह निश्चित रूप से वैश्वीकरण की नयी चुनौतियों का मुक़ाबला कर सकेगी और मौलिक देशी लेकिन आधुनिक विचार की वाहक बन सकेगी जो शताब्दियों तक उसकी ताक़त रही है।

समाज विज्ञान और हिन्दी

आनन्द कुमार*

आदरणीय अध्यक्षजी, पंकज भाई और आज के इस संवाद में पधारे हुए भाईयों और बहनों। पंकज भाई की ये खूबी है कि विषय प्रस्तुति का अवसर अगर उन्हें दिया जाए तो उसकी जो सहजता है और प्रश्नों की जो गंभीरता है, जो जड़े हैं, उन सब को वे आपके सामने रख देते हैं और उसके बाद बोलना बहुत आसान होता है। उन्होने जो कुछ कहा वह भारतीय समाज विज्ञान की बजाए भारतीय प्रभो वर्ग और भारतीय राजसत्ता और भारतीय समाज वैज्ञानिकों पर एक मुकदमा जैसा है। मैं एक समाजशास्त्री परम्परा से जुड़ी हुई संस्था में अध्ययन-अध्यापन करता हूँ। इन्होंने जितने भी प्रसंग उठाए, उन सबकी वास्तविकता को स्वीकारता हूं। जो बहस है, यह बहस दो तरीके से चलाई जा सकती है। एक तो जो पुराने सच हैं, उनके सनातन होने का दावा किया जाए और फिर निराशा में एक और डुबकी लगा ली जाए। जैसे प्रदूषित हो रही यमुना में जाएं और कहें कि हाल बहुत बुरा है पर डुबकी लगाई और पुरखों को श्रद्धांजलि देकर लौट आए अगली शवयात्रा तक। हिन्दी और भारतीय समाज के सम्बंधों के बारे में इस तरह की चार्चाएं मेरी पीढ़ी 1960 के दशक से लगातार सुनती रही है। हिन्दी किसी शवयात्रा में नहीं है।

भारतीय भाषाएं, भारतीय समाज का जो अंतरविरोध है, उसके एक पक्ष का आईना है। और अंग्रेज़ी भाषा और उसके इर्द-गिर्द बनी हुई दुनिया, भारतीय समाज का जो उज्जवल पक्ष है, जो सम्पन्न वर्ग है, जो आजादी के बाद के फलों का रस पा रहा है, उनकी भाषा है। और इन दोनों के बीच में तनाव है, इन दोनों के बीच में आवागमन भी है। कभी-कभी अनुवाद के जरिए, कभी कोई

*प्राध्यापक, समाज शास्त्र विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पुरस्कार के जरिए, कभी सरकारों के बदलने या राजनीति की उठा-पटक के जरिए। प्रतिरोध की शक्तियां व्यवस्था में और व्यवस्था की शक्तियां प्रतिरोध में चली जाती हैं, लेकिन बहुत कुछ सफेद और स्याह जैसा है। जो लोग उस प्रतिरोध को पहचानते हैं और समाज के उस पक्ष को जानते हैं, जैसे देशी भाषाओं के पत्रकार, स्थानीय कालेजों में पढ़ा रहे शिक्षक-शिक्षिकाएं, उनके लिए भाषा का संकट कोई नया संकट नहीं है, लेकिन जो लोग, जो समाज है, उसका लोकतांत्रीकरण हो रहा है, लोकतांत्रीकरण के नाते कुछ परिवर्तन देखना चाहते हैं, वो जब देशी भाषाओं की उपस्थिति को जांचते हैं या जांचने का काम करते हैं, तो उन निष्कर्षो पर पहुंचते हैं जहां पर पंकज भाई हमें पहले ही पहुंचा चुके हैं। असल बात यह है कि भारतीय समाज विज्ञान, भारतीय समाज व्यवस्था से जुड़ा हुआ और भारतीय समाज व्यवस्था के संचालक शक्तियों से पोषित एक विधा या ज्ञान परम्परा है। इसमें प्रतिरोध की सम्भावना और प्रतिरोध का साहित्य रचने की क्षमता अभी भी नहीं है। जब गुजर जाता है, उसके बाद श्रद्धाजंलि स्वरूप कुछ लिखा जा सकता है, जैसे स्वामी सहजानंद सरस्वती का साहित्य अब शायद संकलित होकर के उनके मरने की आधी शताब्दी के बाद आ रहा है, जिसने पूरे उत्तर भारत को आन्दोलित कर दिया था। या अम्बेडकर का साहित्य अब जाकर अनुवाद की भाषा में आ रहा है या राममनोहर लोहिया का साहित्य या और भी इस तरह के लोग जिन्होने लाखों करोड़ों लोगों के अंदर जुम्बिश पैदा की थी, इनका समाज वैज्ञानिक विद्या केन्द्रों में स्थान नहीं है। इनकी पाठ्य पुस्तकें, इनकी रचनाएं, इनका योगदान, इसका कोई अवकाश नहीं है, इसको पढ़ने-पढ़ाने की, क्योंकि भारतीय समाज विज्ञान के तीन स्त्रोत हैं। एक तो पाश्चात्य चिन्तन धारा, उसमें आप चाणक्य को, मनुस्मृति को, अम्बेडकर को गाहे-बगाहे ले आइए फुटनोट के तौर पर, इससे ज्यादा वहां गुंजाइश नहीं है। साक्रेटीज और प्लेटो से शुरू करना पड़ता है। आप कहते रहिए अर्थशास्त्र प्रथम पुस्तक है, शांतिपर्व प्रथम पुस्तक है। लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्रियों ने जहां से एक उज्जवल व्यक्तित्व के रूप में आदरणीय अध्यक्षजी हमारे बीच मौजूद हैं, उन्होने बताने की कोशिश की कि शुकविनितिसार या चाणक्य की रचना या विदुर नीति, इन सबको पढ़ना चाहिए लेकिन वह मामला चला नहीं, क्योंकि एकदम से जैसे बाढ़ का पानी आता है, ऐसे स्वाधीनोत्तर भारतीय समाज

विज्ञान में मूलत: आंग्ल अमरीकी चिन्तन और उसके प्रतिरोध के रूप में मार्क्सवाद की कुछ धाराएं, कुछ चमकदार तत्व उसमें जुड़े। दूसरा, हमारे समाज विज्ञान के आधार के रूप में हम यूरोपीय साहित्य को अभी भी मानते है। यूरोपीय इतिहास, अफ्रीकी इतिहास, लेटिन अमेरिकी इतिहास, एशियाई इतिहास को यूरोपीय इतिहास की धारा में, यूरोप केन्द्रित है। और फिर तीसरा है, हमारे महानगरों में स्थापित विश्वविद्याल और उनके विभाग। एक पूरा ढांचा है जो कि दिल्ली, लखनऊ, बनारस, बम्बई, बंगलौर, इनसे फिर जो मोहर लगती है तब जाकर वह समाज वैज्ञानिक बन पाते हैं। स्थानीय विभागों तक पर उनकी पूरी जकड़बंदी होती है और ये तीनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। क्योंकि अगर अपने महानगरीय विश्वविद्यालयों का चरित्र आप देखें तो आपने कहा एक टांग, टांग तो एक ही रहती है भूमध्यसागर के उस पार लेकिन पूरा चित्त जैसे कि तुलसी के हृदय में या हनुमान के हृदय में जब-जब खोलिए राम ही राम निकलता था, वैसे ही भारतीय समाज वैज्ञानिकों के चित्त में पाश्चात्य विद्याजगत का आतंक और आकर्षण दोनों, आतंक भी और आकर्षण भी, दोनों पूरी तरह से, दोनों पांव लगाए हुए बैठा रहता है। अब उसमें यदि आप चाहें कि देशी भाषाओं में काम हो तो तब फिर आपको आत्मनिर्वासन के लिए तैयार होना पड़ेगा। जैसे रामकृष्ण मुकर्जी एक श्रेष्ठ समाज वैज्ञानिक हैं, लेकिन जो किताबें उन्होने अंग्रेज़ी में लिखीं, वो दोयम दर्जे की थीं उनके हिसाब से, ईस्ट इंडिया कम्पनी और भारतीय समाज के बारे में या पश्चिम बंगाल में ग्रामीण प्रवासन के बारे में और जो उन्होने अच्छा लिखा वे बांग्ला में लिखा और वो आज भी सन्तुष्ट हैं अपने बांग्ला साहित्य से, लेकिन उसको कोई ज्यादा जानते नहीं हैं और अनुवादक मिलते नहीं हैं। जैसे निर्मल कुमार बसु, उन्होने अपना बड़ा काम देशी भाषा में किया जो उनके विद्यार्थियों ने फिर अनुवाद किया। तो जो देशी भाषाओं में काम करेगा, मराठी में, गुजराती में, हिन्दी में, उसको कुछ समय के लिए आत्म निवार्सन के लिए तैयार रहना पड़ेगा या फिर हिन्दी के कुंए में सूखते कुएं में बंद होने के लिए अभिशप्त होना पड़ेगा। अंग्रेज़ी का एक आकाश है, इसमें कोई शक नहीं है और उस आकाश के बराबर, समानांतर एक नया आकाश जब तक देशी भाषाओं का नहीं बनता है, जैसे स्पेनिश, फ्रांसीसी, इतालवी, जर्मन, इन तमाम यूरोपीय भाषाओं ने मिलकर के एक समानांतर आकाश बनाया है अंग्रेज़ी के समानांतर, जो ज्यादा सम्पन्न है, जो

ज्यादा बड़ा तारों सितारों से जड़ा हुआ है, जिसको हम भारतीय लोग नहीं जानते हैं, क्योंकि हम अंग्रेज़ी की खिड़की से दुनिया को देखते हैं। तो यह काम करना एक बड़ी साधना का काम है जो भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के राजनीतिक पक्ष के समानांतर एक सांस्कृतिक स्वाधीनता आन्दोलन की मांग करता है। राजनीतिक स्वाधीनता आन्दोलन को 90-100 वर्ष में कुछ महारत हासिल हुई, अगर आप 1857 से 1947 गिनें। सांस्कृतिक स्वाधीनता आन्दोलन के लिए तो बड़ा लम्बा काम करने की जरूरत है। और यहीं पर मैं अपनी बात को दूसरी तरफ मोड़ता हूँ कि आखिर यह भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ में, क्योंकि अब मैं शवयात्रा से आपको बाहर निकालना चाहता हूँ, एक महायात्रा चल रही है। काल के सन्दर्भ में एक बड़ी यात्रा है, जिसमें कि पंकज बिष्ट जैसे लोगों की आलोचना एक चाबुक का काम करेगी, तेज दौड़ने के लिए हमको प्रेरित करेगी, वरना हम आत्मतुष्टि के शिकार हैं। हम लोग विश्वविद्यालयों में आते हैं पढ़ने समाज विज्ञान, अंग्रेज़ी की किताबें गले में, उसकी तरह से जो पेट ठीक करने की दवा होती है बड़ी कड़वी, कुनेन की तरह से डाली जाती है चम्मच से और हिन्दी, बांग्ला, उर्दू और उड़िया के जरिए आए हुए बच्चे बच्चियों को हम कहते हैं सीखो-सीखो, सीख ही जाओगे, छः महीने में सीख जाओगे, मुझे भी तो नहीं आती थी, मेरी मां ने भी तो नहीं सिखाया और तुम तो स्कूल में सीखे हुए हो, हम तो सीखे नहीं थे हाईस्कूल तक हम करते-करते बच्चे को बहलाते फुसलाते हम लोग ले आते हैं, जैसे कि लोकल एनस्थीसिया दिया जाता है। चित्त फिर एनस्थीसिया लग गया उसके बाद वह संवेदनहीन हो गया। और उसके बाद फिर वह अंग्रेज़ी की किताबों को, उनके उद्धरणों को, उनके ग्रंथो को देखता है और फिर धीरे-धीरे एम.ए. किया, पी.एच.डी. किया, पी.एच.डी. के बाद फैलोशिप मिली और उसके बाद वह अध्यापक/अध्यापिका हो गया। और जैसे कि एक घोड़े के पांव में नाल लगा दी जाए और फिर वह टप-टप दौड़ता रहता है और उसी को अपनी वह नियति समझता है, वैसे हम सब समाज वैज्ञानिक हो जाते हैं। फिर हमें शोधवृत्तियां मिलती हैं, छात्रवृत्तियां मिलती हैं, और हमारे प्रकाशन आते हैं, हमारी कान्फरेंस होती है, हमारा सेमीनार होता है। जो देशी भाषा में काम कर रहे हैं उनके लिए इसके समानांतर कोई दुनिया नहीं है और इसमें राज्यसत्ता की बड़ी भूमिका है। इसलिए मैंने अपनी प्रस्तुति को कुछ इस तरह से आपके सामने रखने का

साहस किया है। वैश्वीकरण, समाज विज्ञान और हिन्दी: स्वाधीनोत्तर राज सत्ता की भाषा नीति, नवऔपनिवेशिकता और नवदौलतिया मानसिकता की चुनौतियां।

मुझे खेद है कि मैं अपना पर्चा आपके सामने नहीं रख सका हूँ, आधा कारण तो यह है कि मैं कहूं क्या और दूसरा आधा कारण कुछ समय का लेकिन मैं जरूर इसको आगे बढ़ाना चाहूंगा क्योंकि मैं उस पीढ़ी का हूँ, जिस पीढ़ी ने बड़े आत्म-विश्वास के साथ अंग्रेज़ी हटाओ आन्दोलन चलाया। और हम लोग बड़े आत्म-विश्वास के साथ प्राकृतिक विज्ञान जैसा क्षेत्र छोड़कर समाज विज्ञान की तरफ आकर्षित हुए थे, दोष जोशीजी जैसे लोगों का है, जिन्होने ऐसी किताबें लिखी थीं जो भारतीय समाज को पढ़ने और समझने में मदद करती थीं। योगेन्द्र सिंह, ए.आर. देसाई, इन लोगों की रचनाओं ने हम लोगों को कहा: कहां जूलोजी पढ़ोगे, कहां कैमिस्ट्री पढ़ोगे, फिजिक्स पढ़ोगे, आखिर जाओगे कहां यह सब करके। तुम्हारा शरीर, तुम्हारी पहचान, तुम्हारे देश से जुड़ी हुई है। यूरोप अमरीका में एक पीढ़ी जा चुकी थी और उसके अनुभव कोई बहुत अच्छे नहीं थे। तो हम सब समाज विज्ञान की तरफ आए। लेकिन समाज विज्ञान में आने के बाद जैसे आकाश से उतरी हुई गंगा शंकर की जटा में फंसी वैसे ही भारतीय सरकार की भाषा नीति में भारतीय समाज को पहचानने के विज्ञानों का भविष्य फंसा हुआ है। उसको नीचे लाने के लिए, लोगों तक लाने के लिए भागीरथ तपस्या की जरूरत है। जोशीजी की पीढ़ी पर आरोप लगाने से काम नहीं चलेगा। वह हमारी अपनी पीढ़ी का और हमारे बाद की पीढ़ी का काम है। इसी सन्दर्भ में वैश्वीकरण से जुड़ी हुई प्रक्रियाओं और प्रश्नों की प्रासंगिकता है।

मैं अगर वैश्वीकरण को समाज विज्ञानी की दृष्टि से आपके सामने रखूं तो इसमें सात तत्व है वैश्वीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए। एक तो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया, दूसरा मध्यम वर्ग, तीसरा बाजार, चौथा संचार माध्यम, पांचवां बहुदेशीय कम्पनियां, छठा आप्रवासन, लोग एक जगह से दूसरी जगह जा रहे हैं, भूगोल सिमट रहा है, लोग कहते हैं "डेथ, आफ डिस्टेंस" हो गया है और सातवां सम्पन्नता। ये सात चीजें मिलकर वैश्वीकरण को आधार देती है और इसमें से दो चीजें है जो कि देशी भाषाओं के अनुकूल हैं। एक है बाजार। हिन्दी का बाजार इतनी तेजी से बढ़ रहा है, जिसका आपको अनुमान

समाज विज्ञान के लेखक के नाते होना चाहिए। हमारे वरिष्ठ प्रोफेसर पी.सी. जोशी साहब के अंतरंग मित्र प्रो० योगेन्द्र सिंह जी का यह दुख है, वह सालता है उनको कि उनकी किताबों को अंग्रेज़ी में पढ़कर हजारों लोगों ने अपना भविष्य बना लिया, लेकिन जिनको वह किताब पढ़नी चाहिए, अभी तक उनके पास किताबें नहीं पहुंची हैं, क्योंकि हिन्दी के अच्छे अनुवादक नहीं मिले और वे कहते हैं कि अब मैं सोशलोजी नहीं लिखूंगा, अब मैं हिन्दी में एक उपन्यास लिखूंगा, क्योंकि मुंशी प्रेमचन्द की जो पकड़ है, वह हमारे पूरे समाजशास्त्री बिरादरी को मिलाकर भी नहीं बन पाई या गांधीजी या अंबेदकर का जो प्रभाव है वह हम सब का मिलकर प्रभाव नहीं बन पाया। लेकिन बाजार बढ़ रहा है हिन्दी का, इसलिए जो हिन्दी या देशी भाषाओं के समाज वैज्ञानिक हैं, उनको जानना चाहिए कि अनजाने में बाईडिफाल्ट अंग्रेज़ी शब्द इस्तेमाल करने की इजाजत दीजिए। बगैर योजना के, सरकार और प्रभुत्व वर्ग के तमाम प्रयासों के बावजूद देशी भाषाओं का बाजार बढ़ रहा है, क्योंकि देशी भाषाएं ही स्वाभाविक भाषाएं हैं। अंग्रेज़ी हमेशा सेतु का काम करेगी, आदमी अपने घर पहुंचेगा अंग्रेज़ी के जरिए, पुल पर आदमी घर नहीं बनाता है, जब तक वह घर विहीन न हो। अंग्रेज़ी घर रहेगी अमरीकियों के लिए, हो सकता है यूरोप वालो के लिए, चीनियों के लिए, अफ्रीकियों के लिए, स्पेनिश, लेटिन अमेरिकन के लिए। दक्षिण एशिया के लोगों के लिए उनकी देशी भाषाएं ही उनके चिंतन का, उनके अवकाश का, उनके मनोरंजन का, उनके शोध और ज्ञान विज्ञान का आधार बनेगी। अंग्रेज़ी पुल का काम कर सकती है, अंग्रेज़ी खिड़की का काम कर सकती है, लेकिन ज्यादातर जो बच्चा खिड़की पर बैठता है, इम्तहान में हमेशा फेल हो जाता है।

इसमें दूसरी अनुकूलता है संचार माध्यम। चाहे जितना भी ढोंग कर लें, तनख्वाहें ज्यादा देते हैं अंग्रेज़ी के पत्रकारों को, लेख लिखने पर ज्यादा मिलता है अंग्रेज़ी के पत्रकारों को लेकिन बाजार में अगर पहुंचना है तो फिर उनको हिन्दी में छापना पड़ता है, भले ही हिन्दी को अनुवाद की भाषा बना लें और यह देशी भाषाओं के साथ भी है। लेकिन जो बाकी पांच ताकतें हैं, वैश्वीकरण की, अध्यक्ष जी, वे सब देशी भाषाओं के खिलाफ हैं। आधुनिकीकरण और देशी भाषा के बीच में एक अंतरविरोध है। मध्यम वर्ग और देशी भाषा के बीच में अंतरविरोध है। बहुदेशीय कम्पनियां जिस देश से जुड़ी रहेंगी, उसी देश की

सोचेंगी सारे वैश्वीकरण के बावजूद। उनके दो टावर गिरे, 6,000 लोग मरे और उनकी सारी अन्तरराष्ट्रीयता, जैसे केले का छिलका उतर जाता है, वैसे उतर गयी। सारे का सारा अमरीका राष्ट्रवादी हो गया और वही हाल भाषा का भी है। सब करने के बावजूद आखिर में अंग्रेज़ी भाषा ही सारी पिछले 300 वर्षों की सम्पन्नता की मलाई पा रही है। बाकी तमाम भाषाएं है और मैं इसमें जर्मन को जोड़ता हूं, मेरा तीन-चार साल से वैश्वीकरण के सन्दर्भ में जर्मन विश्वविद्यालयों के साथ घनिष्ठ सम्बंध बना है और मैं देख कर हताश हूँ कि जर्मन जैसी सम्पन्न भाषा के वारिस भी अब अंग्रेज़ी की वैसाखी अपने बच्चों को देना चाहते हैं, रूसियों ने तो पहले ही हार मान ली थी और इस समय चीनी जितनी बड़ी तादाद में अपने बच्चों को अमरीका के विश्वविद्यालयों में अंग्रेज़ी माध्यम से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान अर्जन के लिए भेज रहे है कि हमारा 1967 का भाषण आज अप्रासंगिक हो गया है। हम विश्वविद्यालयों में खड़े होकर कहा करते थे कि चीन अगर चीनी में प्रगति करता है, रूस रूसी में करता है, फ्रेंच फ्रांसीसी में करता है तो भारतीय देशी भाषाओं मे क्यों नहीं कर सकता। आज वह तर्क पलट गया है।

तो अब मुझे आपसे यह कहना है कि इस समय भूमण्डलीकरण के कारण राष्ट्रीयता और भाषानिरपेक्षता, राष्ट्रनिरपेक्षता और भाषानिरपेक्षता, दोनों के आगे एक भविष्य बन रहा है। न आपको अपने देश की जरूरत है और न आपको अपनी भाषा की जरूरत है। अगर आप जैसे कहते हैं कि आप ये छः फाटक तोड़ लीजिए जिसमें राष्ट्रीय अस्मिता और भाषायी अस्मिता भी है तो सातवां फाटक तोड़कर आप चक्रव्यूह से बाहर निकलेंगे और एक घर यहां होगा, एक घर न्यूयार्क में होगा, और डालर की दुनिया में आप तैर रहे होंगे और सबके घर में सपना यही बन रहा है। पहले होता था कि बच्चा बड़ा होगा, तो जेल जाएगा, गांधी टोपी पहनेगा, भगतसिंह के रास्ते पर जाएगा, फिर वह बच्चा बड़ा होगा तो शहर में जाएगा, मुझे भी गांव से ले आएगा। अब होता है बच्चा बड़ा होगा तो न्यूयार्क और पेरिस हमको दिखाएगा। और हर घर में ये रंगीन तस्वीरें टंगी हुई हैं, यह मेरा ग्रैन्ड चाइल्ड है, यह मेरी नीस है, यह मेरा सन-इन-ला है, यह आई.एम.सी. में काम करता है और अब वहां जाने की भी जरूरत नहीं है, अब तो आई.बी.एम. में काम करिए और तनख्वाह डालर में, दिल्ली में, बंगलौर में बैठे पाइए और बाकी सारे समाज को वंचित मानिए

क्योंकि आपकी मोटर फर्राटों से चल रही है, आपके घर की बिजली अपने घर की बिजली से चल रही है, आपका पानी अपने से चल रहा है। एक अजीब किस्म का आत्मकेन्द्रीकरण हो रहा है और यह आत्मकेन्द्रीकरण कोई अपवाद नहीं है। यह नवदौलतिया की मानसिकता है। भारतीय समाज अब मध्यम वर्ग की लगाम से निकलकर नवदौलतिया वर्ग के चंगुल में फंस गया है। मध्यम वर्ग तमाम दोषों के बावजूद राष्ट्रीयता और सामाजिकता का प्रवर्तक और वकील हुआ करता था, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बोस से लेकर अटल बिहारी तक। लेकिन नवदौलतिया वर्ग पूरी दुनिया को लक्ष्मी के पांव के नीचे मानता है और लक्ष्मी अगर मेरी जेब में है तो दुनिया मेरी जेब में है, बाकी सब का क्या होगा, इसका मुझ से क्या मतलब। यह नवदौलतिया वर्ग और नवऔपनिवेशिकता, जैसे कहिए खाज में खुजली हो गयी है। और इस समय आप राष्ट्र निरपेक्ष और भाषा निरपेक्ष भविष्य को बनता देख रहे हैं, लेकिन यह छलावा है, मृगमरीचिका है, क्योंकि भूमण्डलीकरण के दो दशकों के बावजूद आज दुनिया में गरीबी और विषमता बढ़ रही है और लोग अपने साथ जब तक परसनल सिक्यूरिटी लेकर न चलें, यूरोप और अमरीका के लोग भी आश्वस्त नहीं हैं, नौयडा और बंगलोर के लोगों की बात छोड़ दीजिए, क्योंकि जब विषमता बढ़ेगी, तनाव बढ़ेगा और यहां समाजविज्ञान एक नई प्रासंगिकता के साथ आपके सामने आ रहा है।

• यहाँ मैं यह जोड़ना चाहता हूँ कि समाज विज्ञान का मतलब क्या हुआ, अध्ययन, अध्यापन, शोध और नीति निर्माण में भूमिका। यह चौमुखी या चौखम्भा आधार है समाज विज्ञान का हमारे समाज में। अध्ययन और अध्यापन में मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि एकदम से जैसे बाढ़ का पानी बढ़ता है, वैसे कक्षाओं में हिन्दी, उड़िया, बांग्ला पढ़ाने की मांग आ रही है। हमारे यहां अकेडेमिक कालेज चलता है, मैं जे.एन.यू. में अध्यापक हूँ, पिछले 10 साल से मैं उसका संचालक हूँ, जोशी साहब भी कई बार आए हैं और कक्षा में वे अध्यापक-अध्यापिकाएं हैं, दस-दस वर्ष का अध्यापन का उनको अनुभव है और उनसे हाथ उठा कर कहिए : कितने लोग हैं जो चाहेंगे कि मैं यहां पर हिन्दी में बोलूं। 90 फीसदी लोग हाथ उठा देते हैं, और यह देशी भाषाओं का विस्तार हो रहा है, अनजाने में हो रहा है, अनचाहे हो रहा है, जितनी दूर तक शिक्षा का जनतांत्रीकरण होगा, उतनी दूर तक देशी भाषाओं का, खासतौर पर समाज विज्ञान में, आधार पुष्ट होता जाएगा। लेकिन वहीं पर एक बहुत खास किस्म

का षडयंत्र चल रहा है, जिसमें अंग्रेज़ी है, ज्ञान-विज्ञान की भाषा और हिन्दी, उड़िया, बांग्ला, मराठी, लोकाचार की भाषा। अंडर ग्रेजुएट में पढाओ देशी भाषाओं में। ठीक है, एम.ए. भी कर लेने दो, थीसिस भी लिखने दो, लेकिन वह काम का नहीं है। मैं यहीं पर अपने आत्मानुभव से बात खतम करना चाहूंगा पंकजजी को बताते हुए कि हमारी पीढ़ी किस दर्द से गुजर रही है। अंग्रेज़ी हटाओ आन्दोलन खतम करने के बाद अपने विश्वविद्यालय से निष्कासित होकर मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आया। मैनें पढ़ाई अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से की लेकिन शोध निबंध लिखने के लिए मैंने आग्रह किया कि मैं हिन्दी में लिखूंगा। मेरे शोध निबंध का एक पर्यवेक्षक बंगला भाषा का आचार्य, दूसरा मराठी भाषा का आचार्य, दोनों ने मिलकर मुझे नम्बर दिया। लेकिन उस शोध निबंध को जब मैंने जमा करने का काम किया तो मेरे आचार्यो ने कहा कि यह लिख कर क्या करोगे, इसको तुम्हारे और तुम्हारे परीक्षकों के अलावा कोई पढ़ नहीं पाएगा, कहां छपवाओगे इसको। आज हिन्दी में लिखे हुए उच्चस्तरीय निंबध को छपवाना एक समस्या है। दिनमान, धर्मयुग किसी ने कहा, यह थे लेकिन उससे भी अच्छे स्तरीय प्रकाशन हुआ करते थे। आज कहीं कुछ नहीं है। अब आप दैनिक पत्रों के विशेषाकों में लिख कर पाठक तक पहुंचिए, वहाँ करोडों की संख्या में आप पहुंच सकते हैं, लेकिन उसका कोई आधार नहीं है, कहेंगे कहां लिखा था, किस अखबार में लिखा। हिन्दी में लिखा तो समझिए कि सत्यनाश और जब किसी अखबार में लिखा तो सवा सत्यनाश, उसकी कोई प्रमाणिकता नहीं है, क्योंकि वह रेफरेन्स जरनल नहीं है। तो रेफरेन्स जरनल में लिखने के लिए अंग्रेज़ी में लिखना पड़ेगा और फिर आप एक दूसरी दुनिया में चले जाते हैं, जैसे कहते हैं कि क्रिकेट के मैदान में आप फुटबाल नहीं खेल सकते, वैसे आज पेशे मे आप देशी भाषाओं की सेवा नहीं कर सकते हैं और अगर करेंगे तो आत्म-निर्वासन के लिए तैयार होना चाहिए। विदुर बनकर रहना पड़ेगा, विभीषण बन कर रहना पड़ेगा। यह रावणराज में अंग्रेजी भाषा, नवदौलतिया मूल्य और नवऔपनिवेशिकता की संस्कृति, इसमें विभीषण बनकर रहा जा सकता है, लेकिन फिर राम की तलाश भी तो करनी पड़ेगी और वह राम है। वह नर्मदा के लिए लड़ रहा है, क्षेत्रीय अस्मिता के लिए लड़ रहा है। अभी तीन राज्य बने हैं, क्षेत्रीय अस्मिता के आन्दोलन के उत्तर में। तमाम गरीबों ने अपने ढंग से एक नई दुनिया बनाई है, लेकिन वह

सब समाज विज्ञान के दायरे से बाहर है, कम-से-कम विश्वविद्यालय का शोध उसके इर्द-गिर्द नहीं हो पा रहा है। तब आप कहेंगे तुम यह सब बोल रहे हो तो इसमें भविष्य कहां है। भविष्य के लिए मुझे लगता है कि एक नया उन्मेश है और वह नया उन्मेश नए आन्दोलनों और एकदम से राजसत्ता के इर्द-गिर्द दाखिल हो रहे नए तबकों का है, जो बेचारे चाहेंगे भी तो अंग्रेज़ी के जरिए, यानी उनको नारद मोह है हमारे नए मित्रों को जो नए राज में आए है, यह जो नई प्रभुजातियां है, ये अपने बच्चों को पढ़ा रहे है ग्वालियर में, नैनीताल में वगैरह-वगैरह, लेकिन इनको नारद मोह है। ये कभी उस खेल में जीत नहीं सकते है, फिर बाजी बदल दी जाएगी, फिर नियम बदल दिए जाएंगे और यह जो नया वर्ग पैदा हुआ है, जनतंत्र के कारण जिसको अस्मिता मिली है, आवाज मिली है, इसको देशी भाषाओं का वरण करना ही पड़ेगा। और यहीं पर समाज वैज्ञानिकों की एक बड़ी भूमिका है और भूमण्डलीकरण के जरिए जो एक बड़ी बात हो रही है वह है नई तकनीक। आप कल तक कहते थे कि अनुवादक कहां है, अब तो मशीन ही अनुवादक हो गई है। जोशीजी के लेख को तुरन्त पांच मिनट के अंदर केजरीवाल साहब भारत की 18 भाषाओं में साफ्टवेअर के जरिए पेश कर सकते है। इसलिए भाषा, देशी भाषाएं, नई जो भूमण्डलीकरण की तकनीक है, संचार की तकनीक, उसके जरिए बहुत कुछ कर सकती है, बशर्ते कि विदुर इस धृतराष्ट्र सभा में या दुर्योधन सभा में या रावण राज में सामने आएं। इन विदुरों को ही मैं समझता हूँ कि इस बहस को समर्पित करते हुए अपनी बात को खतम करना चाहूंगा।

वैश्वीकरण, हिन्दी समाज की जड़ता और समाज विज्ञान

पंकज बिष्ट*

अगर इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभ में भी किसी समाज की सारी चिंता, सारी मौलिकता और सारी रचनात्मक ऊर्जा साहित्य पर ही सिमट कर रह जाये तो निश्चय ही यह इस बात का संकेत है कि उस समाज में कहीं गहरे कोई गड़बड़ है। पर हमारे समाज में ज्ञान के क्षेत्र में यह एकांगिकता और असंतुलन, जिसे वैचारिक ठहराव के रूप में देखा जाना चाहिए, नया नहीं है।

किसी समाज की प्रगति के लिए मात्र ज्ञान का विकास ही जरूरी नहीं है, उससे भी जरूरी यह है कि जो भी ज्ञान अर्जित किया जा रहा है वह समाज के सभी वर्गों तक पहुंचे बल्कि उसका उपयोग भी सम्यक हो। इसके अलावा यह भी जरूरी है कि ज्ञान के इस विकास में बाकी लोगों की भी उतनी ही भागीदारी हो जितनी कि आज प्रभु वर्गों (हमारे संदर्भ में उच्च वर्णों) की है। समाज विज्ञान के अनुशासनों के संदर्भ में तो यह बात और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि बिना अपने समाज पर विवेचनात्मक नजर डाले किसी भी परिवर्तन की शुरूआत न कभी हुई है और न ही हो सकती है।

मैं अपनी बात को उस भक्ति आंदोलन से शुरू करना चाहता हूँ जोकि हमारे समाज के दलित तबकों के विद्रोह के रूप में याद किया जाता है। यह सही है कि इस आंदोलन के माध्यम से दलितों और महिलाओं ने अभिव्यक्ति पाई, पर यहां प्रश्न यह है कि क्या इस आंदोलन का वैसा असर हमारे समाज में वास्तव में पड़ा जितना मुखर साहित्य में नजर आता है? और यह आंदोलन सामाजिक परिवर्तन--महिलाओं और दलितों के संदर्भ में-- किस हद तक

*प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा संपादक, *समयांतर*

शुरूआत कर पाया? ऐसा क्यों हुआ कि भारतीय संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन के इन स्वरों की कविता से इतर अभिव्यक्ति नहीं हो पाई? क्या कहीं कोई ऐसा ग्रंथ लिखा गया जो कि सामाजिक परिवर्तन को ठोस यथार्थ के संदर्भ में समझने और विश्लेषित करने और पीड़ितों को नई दिशा देने का काम करता हो?

मेरे लिए यह भी कम बड़ी गुत्थी नहीं है कि आखिर क्या कारण रहे कि जिस देश में राजनीति और वित्त के संबंध में चिंतन करने तथा व्यावहारिक ज्ञान देनेवाला अर्थशास्त्र जैसा ग्रंथ ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व ही लिख दिया गया हो और जो देश दुनिया का सबसे बड़ा व्यापारी देश रहा हो, उसी में न तो वाणिज्य के बारे में और न ही अर्थशास्त्र के बारे में आगे चल कर कोई चिंतन हुआ। अगर हुआ भी है तो यह या तो बहुत ही हाशिये का है या फिर राजाओं और बादशाहों के जिंदगीनामों और सरकारी आदेशों तक ही सीमित है। या दूसरे-तीसरे दर्जे का है, जिसकी ओर समाज ने शायद ही कभी कोई ध्यान दिया हो और जिसने कि इन क्षेत्रों में किसी भी तरह के नये चिंतन की शुरूआत की हो। क्या अपने आप में यह बात भी परेशान करने वाली नहीं है कि ज्ञान और साहित्य के हमारे विशाल भंडार में ऐसी रचनाएं मुश्किल से ही मिलती हैं जो कि समाज के बारे में किसी तरह का विवेचन करती हों, सिवा मनुस्मृति जैसे ग्रंथों के जो कि एक तरफे निर्देशों का पुलिंदा है। आखिर ऐसा क्यों हुआ कि हमने मनुस्मृति को चुनौती तब दी या भक्ति काल के आदर्शों को तब यथार्थ में बदलना शुरू किया जब कि हम पश्चिम के ज्ञान के संपर्क में आये? अपने आप में यह भी कम चकित करनेवाला नहीं है कि जहां विज्ञान के क्षेत्र में विशेष कर खगोल में भारतीय वैज्ञानिक (भास्कर) 12वीं शताब्दी तक महत्वपूर्ण काम कर रहे थे समाज की समस्याओं पर जैसे उन्होंने ईसा से सौ वर्ष पूर्व के ग्रंथ धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) के साथ ही लिखना छोड़ दिया था। आखिर ऐसा कैसे हुआ कि अगले दो हजार वर्षों तक हिंदुओं ने, इस्लाम के एक हजार वर्ष के संपर्क के बावजूद, अपने समाज की स्थिति के बारे में किसी भी तरह का कोई भी परिवर्तन करना जरूरी नहीं समझा?

संभवत: इसका कारण वर्णव्यवस्था के वे अवरोध रहे होंगे जिन्होने व्यावसायिक दक्षता को छोटे-छोटे समूहों तक सीमित कर प्रतिभा के नैसर्गिक प्रवाह पर ही रोक नहीं लगा दी बल्कि भद्रजनों की एक ऐसी भाषा का भी प्रावधान किया जिसने कि ज्ञान को कुछ लोगों तक सीमित रखने का काम किया। इस परिणाम

यह हुआ कि उच्च वर्णों ने किसी भी रूप में न तो श्रम के महत्व को पहचाना और चूंकि स्वयं उन्हें श्रम नहीं करना पड़ रहा था, इसलिए उन्होने दैनंदिन कामों में किसी तरह की दक्षता बढ़ाने, श्रम के कष्ट को घटाने या फिर कोई नये आविष्कार करने का प्रयत्न नहीं किया। जहां तक सामाजिक विषयों का संबंध है, उन पर विचार करने की जरूरत, साफ है कि इसलिए नहीं समझी गई क्योंकि जो दमनात्मक ढांचा जाति व्यवस्था ने बना दिया था वह इतना जटिल और सफाई से रचा गया था कि उसे सवर्ण बौद्धिकों ने कभी किसी तरह का अन्याय मानना तो दूर रहा बल्कि एक स्वाभाविक अधिकार माना और उससे लाभान्वित होते रहे। यानी किसी भी आविष्कार, किसी भी बदलाव के लिए जो पूंजी, प्रतिभा, ज्ञान और जरूरत महसूस की जाती है, वह हमारे समाज में कभी विकसित ही नहीं हो पाई। आज अंग्रेजी को आप संस्कृत और जाति को वर्ग के समानांतर रख कर देखें तो कई बातें अचानक ही साफ होने लगती हैं।

हिन्दी भाषा में पिछले दो सौ वर्षों के दौरान हुए लेखन में हमारे समाज के इस विवेचनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टि के अभाव की कई अद्भुत मिसालें मिल जाती हैं। हिन्दी साहित्य को लें। जहां रचनात्मक साहित्य में हिन्दी के पिछले दो सौ वर्षों के इतिहास में एक से बढ़ कर एक उत्कृष्ट रचनांए और लेखक नजर आते है पर जहां तक आलोचनात्मक लेखन का सवाल है वह कितना दरिद्र है इसकी मिसाल यह है कि आज भी हिन्दी का एक मात्र प्रामाणिक साहित्य-इतिहास का ग्रंथ आचार्य रामचंद्र शुक्ल रचित हिन्दी साहित्य का इतिहास ही है। इसी तरह आज साहित्य के पठन-पाठन के लिए दुनिया भर में सामाजिक इतिहास को जरूरी सामग्री माना जाता है पर अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारी राजभाषा में आज तक हिन्दी-क्षेत्र का सामाजिक इतिहास लिखा ही नहीं गया है। इधर साहित्य के समाजशास्त्र पर कुछ पुस्तकें आई हैं पर वे पाठ्यपुस्तकों के दर्जे से ऊपर नहीं उठती हैं। सत्य तो यह है कि हिन्दी आलोचना तक की स्थिति इतनी खराब है कि लगभग पिछली आधी शताब्दी के लेखन, विशेष कर कथा साहित्य और उसमें भी उपन्यास पर एक भी ऐसा आलोचनात्मक ग्रंथ नहीं मिलता है जोकि हिन्दी की रचनात्मकता को समझने में सहायक होता हो। साफ बात यह है कि जिस भाषा में रचनात्मक साहित्य के समानांतर सामाजिक और वैज्ञानिक लेखन नहीं हो रहा होगा उस भाषा के साहित्य में भी ठहराव आना लाजमी है। कहीं ऐसा तो नहीं

है कि हमारी आत्मतुष्ट रहने की पुरानी परंपरा ने हमारी विवेचन और समीक्षा की क्षमता को ही सोख लिया हो! इसलिए यह अचानक नहीं है कि हिन्दी साहित्य के छात्रों और अध्येताओं के स्तर में लगातार गिरावट हो रही है।

हिन्दी समाज के ठहराव को उसकी अशिक्षा और अपनी भाषा से बढ़ती दूरी के संदर्भ में देखा ही जाना चाहिए साथ में उसकी रचनात्मक मेधा और उर्जा के सिमटने या पलायन करने की परिघटना के संदर्भ में भी समझा जाना चाहिए। हिन्दी यद्यपि देश की सबसे बड़ी और तथाकथित राजभाषा है पर सच्चाई यह है कि आजादी के बाद के इन 52 वर्षों में हमारे समाज में हिन्दी के महत्व में लगातार गिरावट आई है। असल में अपनी भाषा में साहित्य के अलावा ज्ञान-विज्ञान के अन्य विषयों का न होना एक ऐसा अवरोध है जिसने ज्ञान के विस्तार को रोकने में बड़ी भारी भूमिका निभाई है। यह बतलाना जरूरी नहीं है कि ज्ञान का विस्तार किसी समाज की प्रगति और उसकी गत्यात्मकता को बनाए रखने के लिए एक जरूरी शर्त है। और इसके लिए जरूरी है कि सामाजिक संस्थाओं और स्थितियों पर खुले रूप में चिंतन और विवेचन हो तभी कोई समाज वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना सकता है और अपने को बदलने में कामयाब हो सकता है। यह बात अन्य भारतीय भाषा समुदायों पर भी यथावत लागू होती है और इस मायने में इसे पूरे भारतीय समाज पर भी टिप्पणी कहा जा सकता है। पर यह हिन्दी के संदर्भ में इसलिए और भी स्पष्ट नज़र आती है क्योंकि हिन्दी क्षेत्र अपने विस्तार में ही नहीं अपने पिछड़ेपन में भी सबसे आगे है।

इससे बड़ी विडंबना क्या हो सकती है कि हिन्दी समाज के बारे में विभिन्न अनुशासनों (डिसिप्लिनों) में किए जा रहे अध्ययन और विश्लेषण हिन्दी माध्यम में लगभग नहीं के बराबर हैं। यह ठीक वैसी ही औपनिवेशिक मानसिकता है जिसके तहत पश्चिमी समाज विज्ञानी एशिया और अफ्रीका के समाजों का अध्ययन करते नजर आते हैं। ये अध्ययन उन्हे तो दूसरे समाजों को समझने और उसके अनुरूप अपनी नीतियां बनाने में मदद देते है, पर जिस समाज के बारे में वे अध्ययन किये गये हैं उनसे इन समाजों को लगभग कोई लाभ नहीं होता। चाहे वह अध्ययन दादा भाई नौरोजी का हो, लाला लाजपत राय का हो, जवाहरलाल नेहरू, रमेश चंद्र दत्त, रजनी पाम दत्त,

धर्मानंद कोशांबी या देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय का हो। सिर्फ गांधीजी अपवाद हैं। देखा जाये तो वैश्वीकरण के संदर्भ में यह औपनिवेशिक मानसिकता कहीं अधिक घातक सिद्ध हो रही है क्योंकि यह बहुराष्ट्रीय महाकाय कंपनियों और समृद्ध देशों को भारत जैसे तीसरी दुनिया के एकतरफा शोषण के रास्ते को और आसान कर रही है। इन कथनों में वह विरोध भी नहीं है जो कि आजादी से पूर्व के सामाजिक विज्ञानों के अध्ययनों में था।

विज्ञान और तकनीकी को फिलहाल जाने दें, इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, कृषि, वाणिज्य और अर्थशास्त्र जैसे विषयों तक पर मौलिक लेखन का हिन्दी में बिल्कुल अभाव है। इसके दुष्परिणाम कई रूप में देखने को मिल रहे हैं। इन में सबसे बड़ा यह है कि हमारे समाज के बारे में कोई भी गंभीर और नया अध्ययन समान्य पाठक तो छोड़ बहुसंख्य पत्रकारों, लेखकों और अन्य बुद्धिजीवी तबकों तक भी नहीं पहुंच पाता है। यहां ये बतलाने की जरूरत नहीं है कि हिन्दी का बहुसंख्य प्रबुद्ध और बुद्धिजीवी तबका--बुद्धिजीवी शब्द को यहां उदार अर्थों मे इस्तेमाल किया जा रहा है--अंग्रेजी के कारण अपने को बहुत सारे ज्ञान से कटा पाता है क्योंकि इन अध्ययनों को समझने और स्वयं इस तरह के अध्ययन में भागीदारी करने के लिए एक विदेशी भाषा में जिस स्तर की दक्षता की जरूरत होती है वह सामान्य पाठशालाओं और विद्यालयों में पढ़ा अधिसंख्य छात्र-वर्ग आजीवन नहीं हासिल कर पाता। सरकारी स्कूली शिक्षा संस्थाओं के साथ ही हमारे विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के शिक्षा के स्तर में आ रही गिरावट के साथ ही यह दूरी और बढ़ती जा रही है। यहां बात सिर्फ हाई स्कूल या इंटर कालेज के अध्यापक की ही नहीं हो रही है बल्कि कहना चाहिए महाविद्यालयों और काफी हद तक--मेरठ, रोहतक, सागर, रूहेल खंड, गोरखपुर, गढ़वाल, कुमांऊ, मिथिला जैसे--विश्वविद्यालयों तक के बहुसंख्यक अध्यापक नये विचारों, खोजों, विश्लेषणों से वंचित रह जाते हैं। इसे इतिहास में हो रहे कामों के सदर्भ मे आसानी से समझा जा सकता है। इरफान हबीब, शाहिद अमीन और ज्ञानेंद्र पांडे जैसे लोगों ने इतिहास में और विशेष कर उत्तर भारत के इतिहास पर महत्वपूर्ण काम किया है। पर यह सारा काम नियमपूर्वक अंग्रेजी में किया गया है। यद्यपि श्यामाचरण दूबे और पूरण चंद्र जोशी जैसे समाज विज्ञानियों ने हिन्दी में भी लेखन किया है इस पर भी इनका मुख्य काम अंग्रेजी में ही है। नतीजा यह है कि हिन्दी क्षेत्रों और इन क्षेत्रों में हो रहे काम

के बारे में किसी भी तरह की जानकारी हिन्दी समाज में नही फैल पाती है और यह हमारी जड़ता को और मजबूत करती जाती है। इसी तरह समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का मामला है। क्या कोई उत्तर भारतीय समाज के बारे में हिन्दी भाषा में छपी कोई ऐसी किताब बता सकता है जो मौलिक होने के साथ-साथ कुछ नयी अवधारणाओं को भी सामने लाती हो? मनोविज्ञान पर सुधीर कक्कड़ ने इधर कई किताबें लिखी हैं जोकि कमोबेश उत्तर भारतीय समाज को आधार के रूप में लेती हैं पर क्या इन में से एक भी हिन्दी में लिखी गई हैं? या मंडल आयोग पर, जिसने कि उत्तर भारत में पिछले वर्षों मे पूरे सत्ता समीकरण को ही बदल दिया है, एक भी शोध या किताब ऐसी है जो कि मौलिक रूप से हिन्दी में लिखी गई हो? या उत्तर भारत में मजदूरों के पलायन पर कोई अध्ययन आया है? या किसी ने उत्तर भारत में भयावह तरीके से बढ़ रहे लिंग असंतुलन जैसे गंभीर विषय पर हिन्दी में कोई अध्ययन किया है? क्या आपने हिन्दी में कोई ऐसा अध्ययन देखा है जोकि हिन्दी क्षेत्र के आर्थिक पिछड़ेपन का आधिकारिक अध्ययन करता हो? यह तथ्य किस बात की ओर इशारा करता है? भाषा की दरिद्रता के अलावा जो खतरनाक बात यह हमें बतलाता है वह यह कि ज्ञान और हमारे समाज के आम आदमी के बीच में दूरी बढती जा रही है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो अकादमिक और बुद्धिजीवियों की दुनिया अपने समाज से तेजी से दूर हो रही है और अपने पश्चिमी-झुकावों के कारण ऐसे अनुसंधानों-अध्ययनों में लगी है जोकि जाने-अनजाने वैश्वीकरण की एकतरफा ताकतों के लिए सहायक सिद्ध हो रहे हैं। मुझे लगता है आज सबसे बड़ी चुनौती यही है कि ऐसे मंच सामने आयें जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हो रही प्रगति, अन्य अनुशासनों पर इसके प्रभाव को, आम पाठक तक अगर नहीं भी ले जा सकें तो भी, कम से कम उस प्रबुद्ध पाठक वर्ग तक तो ले ही जायें जो कि दूर-दराज के इलाकों में रहता है पर अंग्रेजी का वैसा ज्ञाता नहीं है जैसा कि हमारे इलीट विश्वविद्यालयों में पीठासीन समाज विज्ञानी जिनकी एक टांग अनिवार्य रूप से भूमध्य सागर के उस पार रहती है, पर जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण घटक के रूप में उभर सकता है।

इस संदर्भ में चकित करनेवाली बात यह है कि वे वामपंथी (अकादमिक संस्थानों में वामपंथियों की संख्या कम नहीं है) जो सामाजिक परिवर्तन के सबसे बड़े हिमायती हैं भारतीय भाषाओं, विशेष कर हिन्दी से सदा दूरी बनाए

रखते हैं और ऐसी भाषा में काम करना पसंद करते हैं जोकि न केवल विदेशी है बल्कि हमारे देश के संदर्भ में शासक और शोषक वर्ग की भी भाषा है। इसलिए यह अचानक नहीं है कि पूरा हिन्दी क्षेत्र कमोबेश रूढ़िवादी और सांप्रदायिक ताकतों के हाथों में नजर आता है और वाम पंथी गंगा-जमुना के मैदान में दूर-दूर नजर नहीं आते।

यह ठीक है कि हमारे समाज विज्ञानी--जहां तक विज्ञान और तकनीकी का सवाल है, उन के पास तो हजार बहाने हैं-- अपनी भाषा में कोई काम नहीं कर रहे हैं पर इसके साथ ही यह भी एक सत्य है कि हमारी भाषा में ऐसे मंच भी नहीं हैं जो कि गंभीर शोध और विचारों को सामने लाने का काम करते हों। अगर ऐसा होता तो निश्चय ही सब नहीं तो कुछ लोग तो हमें ऐसे मिल ही जाते जो कि अपनी बात को आम आदमियों तके ले जाना ही नहीं चाहते बल्कि उसके आलोक में समाज में सकारात्मक परिर्वतनों की शुरूआत को देखना भी चाहते। कोई नहीं कहेगा कि सभी समाजविज्ञानी पश्चिम के मुंह में हैं और नहीं चाहते कि जिस समाज के बारे मे उनका अध्ययन और शोध है वही समाज उससे वंचित रह जाये विशेष कर तब जबकि, वे स्वयं उसी समाज का हिस्सा हों। सातवें दशक के पूर्वार्द्ध में जब रघुवीर सहाय दिनमान के संपादक थे तब उसमें पुरातत्व पर ब्रजमोहन पांडे के, जो कि स्वयं एक पुरातत्ववेत्ता हैं और कई उत्खन्नों से जुड़े थे, महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ करते थे। उस दौरान वह आजकल के लिए भी लिखा करते थे। लगभग डेढ़ दशक बाद जब मै वापस आजकल में लौटा तो मैंने चाहा कि वह हमारे लिए लिखें पर तब तक वह हिन्दी में लिखना लगभग बंद कर चुके थे और लाख कोशिश के बावजूद उन्होंने नहीं लिखा। हो सकता है इसके पीछे उनकी व्यक्तिगत सीमाएं हो पर मुझे लगा कि जो माहौल उन दिनों था वह अब नही रहा है। उसी दौरान विख्यात पुरातत्वविद् हंसमुख धीरजलाल सांकलिया का मूल हिन्दी में लिखा एक लंबा लेख, जोकि रामायण के काल के संदर्भ में था, आजकल में प्रकाशित हुआ था। यह लेख कई मायनों में रेडिकल था। इसी तरह मेरे एक पुराने मित्र रवीद्र सिंह बिष्ट जिन्होने कि पिछले दशक में धौलावीरा जैसे महत्वपूर्ण स्थल की खुदाई की थी, जब 1995 में दिल्ली लौटकर आये तो मैने उन से अनुरोध किया कि वह आजकल के लिए एक लेख लिखें। वह किसी तरह तैयार हो गये। वह लेख इतना विस्तृत और महत्वपूर्ण

साबित हुआ कि बाद में अंग्रेजी के भी कई लेखों का आधार बना था। महत्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी में उसका जबर्दस्त स्वागत हुआ और लेख छपने के कई वर्ष बाद भी पाठक उसकी तलाश करते हुए मिलते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी मे न लिखना मात्र भाषा की असमर्थता नहीं है बल्कि अपनी भाषा, संस्कृति व समाज के प्रति एक तरह की तटस्थता और किसी भी तरह के लगाव का न होना है। यह महत्वाकांक्षाओं का असीमित विस्तार और कैरियरिज्म का निकृष्ट रूप भी है।

निश्चय ही ज्ञान का माहौल बनाने के लिए मात्र कुछ गिनती के विद्वानों का होना ही काफी नहीं है। इसके लिए पूरे समाज की सक्रियता जरूरी है। अगर हम बुद्धिजीवियों, लेखकों और समाज विज्ञानियों या वैज्ञानिकों से अपेक्षा करते हैं कि वे अपनी भाषा में लिखें और इस का लाभ समाज को मिले तो हमें भी यह देखना जरूरी है कि हम बदले में इन लोगों को कुछ दे रहे हैं या नहीं--प्रकाशन का अवसर, सम्मान, प्रतिष्ठा। इस संदर्भ में एक बड़ी कमी जिसकी ओर ध्यान जाये बगैर नहीं रहता वह है हिन्दी में शोध पत्रिकाओं की कमी और गंभीर लेखों के प्रकाशन के मंचो का न होना। हिन्दी क्षेत्र का शायद ही कोई विश्वविद्यालय हो जोकि समाज विज्ञान या फिर विज्ञान की कोई शोध पत्रिका हिन्दी में निकालता हो। अगर निकालता भी हो तो उसका वह स्तर नहीं है जो कि उसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर का बनाता हो। सरकार हिन्दी के नाम पर कितना पैसा बरबाद करती है यह किसी से छिपा नहीं है पर यह किसी की चिंता का भी विषय नहीं है कि वह पैसा कैसे और कहां खर्च हो रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी में उभरे एक प्रकाशक ग्रंथ शिल्पी की सूची को अगर देखें तो आप को सुखद आश्चर्य होगा कि इस सूची मे सभी किताबें कमोबेश समाज विज्ञान से संबंधित हैं और शायद ही कोई किताब कविता या कहानी की हो। पर एक बात जो खटकती है वह यह कि इसमें अधिसंख्य किताबें अनुवाद हैं। ये अनुवाद विदेशी लेखकों के ही नहीं है बल्कि इन में बड़ी संख्या में भारतीय लेखक हैं, जिनमें कई उत्तर भारतीय हैं। एक और प्रकाशक राजकमल जो कि समाजशास्त्रीय और इतिहास संबंधी किताबें छापता है, के भी अधिसंख्य प्रकाशन अनुवाद हैं फिर चाहे वे सबल्टर्न अध्ययन हों या समाज विज्ञान की कोई पुस्तक। सामान्य विज्ञान या उससे संबंधित विषयों पर हिन्दी

में इक्का-दुक्का अध्ययन अगर नजर भी आता है तो वह सामान्यत: पत्रकारी है। पर महत्वपूर्ण बात इस संदर्भ में यह है कि ऐसा नहीं है कि हिन्दी समाज तकनीकी, दर्शन, विज्ञान और समाजशास्त्र जैसे विषयों पर गंभीर अध्ययनों का स्वागत करने और उन्हे समझने की स्थिति में ही नहीं है बल्कि सच यह है कि वह ऐसे साहित्य के लिए तरस रहा है और उसे जो कुछ भी मिलता है--अधिकतर खराब अनुवादों के माध्यम से--वह उसे लपक लेता है।

हिन्दी समाज की एक बड़ी कमी शायद उस का सरकार और सरकारी संस्थाओं पर निर्भर रहना रही है। शायद हिन्दी वालों ने यह मान लिया कि राजभाषा होने के साथ ही हिन्दी की सारी समस्याएं ही नहीं सुलझ गई हैं बल्कि उस समाज की, जिसकी यह भाषा है, जिम्मेदारी भी समाप्त हो गई है। किन्हीं अर्थों में यही तटस्थता और निश्चिंतता हमारी वर्तमान दुरावस्था के लिए जिम्मेदार है। सामाजिक सक्रियता किसी भी भाषा के लिए एक आवश्यक शर्त है जिसे हिन्दीवालों ने पूरी तरह भुला दिया है। अकसर कहा जाता है कि हिन्दी आंदोलन ने हिन्दी का नुकसान किया है। पर सत्य यह है कि आज उस आंदोलन को खत्म हुए 30 से ज्यादा वर्ष हो चुके हैं और यह स्पष्ट हो चुका है कि भारतीय भाषओं को अगर किसी से खतरा है तो वह अंग्रेजी से ही है। इसे हम पिछले दिनों तमिलनाडु के उदाहरण से, जो कि हिन्दी विरोध में सबसे आगे रहा है, समझ सकते हैं जहां कि तमिल को प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर अनिवार्य बनाने से रोकने में हिन्दी नहीं अंग्रेजी जिम्मेदार रही है। क्या यह कम आश्चर्य की बात है कि तमिल के लागू न कर पाने पर तमिल में वैसा हिंसक आंदोलन नही चला जैसा कि हिन्दी विरोध के दौरान देखने को मिला था। यही हाल बंगाल का भी रहा है जहां कि बंग्ला के लिए हिन्दी नहीं अंग्रेजी सबसे बड़ी अड़चन नजर आ रही है। पर विडंबना यह है कि वहां विरोध हिन्दी का हो रहा है। असल में अंग्रेजी के पक्षधर, जोकि देश भर मे फैला हमारा शासक वर्ग है, हिन्दी का हौआ अपने निहित स्वार्थों के लिए खड़ा करता रहा है। वह हिन्दी आंदोलन का विरोध इसलिए करता है क्योंकि उसे पता है कि अगर यह आंदोलन प्रबल हुआ तो यही नही कि समाज पर उसका वर्चस्व टूटेगा बल्कि आज उसकी जो विशिष्ट स्थिति बनी हुई है वह भी खत्म हो जायेगी। सत्य यह है कि हिन्दी को उच्च वर्ग ही नहीं मध्य वर्ग भी तेजी से छोड़ रहा है क्योकि उसका हित हिन्दी के साथ नहीं रहा है। असल में अंग्रेजी

उसे अपने निर्वाण का सबसे अच्छा और निश्चित मार्ग नजर आ रही है जोकि उसके होनहार बच्चों को लंदन और न्यूयार्क पहुंचाने मे मददगार हो सकती है। पिछले रविवार को अंग्रेजी दैनिक *टाइम्स आफ इंडिया* में गुरचरण दास की 'इनएस्केपेब्ली इंग्लिश' शीर्षक से एक मज़ेदार टिप्पणी प्रकाशित हुई है, मैं इसे उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूं। इसका पहला पैरा देखिये:

Ever since the British left we have heard constant carping against the English language. Then one day in the 90 it suddenly seemed to die, and quitely without ceremony English became one of the Indian languages. It lost its colonial stigma, oddly enough, around the time that the Hindu nationalists came to power and realised that Hindi had failed them. Hindi protagonists lost steam because they lost their convictions. Their own daughters wanted to learn English and get ahead in the world and their wives reminded them that English was their child's passport to the future.

ऐसे में लगता यह है कि हिन्दी का भविष्य वास्तव में उन पिछड़े लोगों से जुड़ गया है जिन्हे आज तक पढ़ने-लिखने का मौका नहीं मिला है और ऐसे में क्या यह शंका गैरवाजिब है कि अंग्रेजी की वकालत के पीछे इस वर्ग को, जोकि अब अपने अधिकारों को मांगता नज़र आ रहा है, ज्ञान और प्रकारांतर से सत्ता के केंद्रों से वंचित रखना है?

सरकारी जड़ता, गैरजिम्मेदारी और विकृत राजनीति के चलते सरकार से जुड़ कर हिन्दी को नुकसान ज्यादा हुआ है। जैसे-जैसे सरकारी संस्थाओं की विश्वसनीयता घटी है हिन्दी के सरकारी मंचो की अराजकता बढ़ी है। किसी जमाने में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और राजस्थान आदि की ग्रंथ अकादमियों ने इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण काम किया था और कई समाज. विज्ञान और विज्ञान के मौलिक और अनुदित ग्रंथ छापे थे, पर इधर उनके स्तर में आई गिरावट इतनी स्पष्ट है कि ये संस्थान अपनी सार्थकता ही खो बैठे हैं। इधर हाल में स्थापित किया गया महात्मा गांधी अंन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय इसका एक और उदाहरण है जिसने पूरी हिन्दी भाषा को घटाकर साहित्य तक सीमित कर दिया है। कहा नही जा सकता कि भारतीय इतिहास परिषद् या समाज विज्ञान परिषद् हिन्दी मे कोई शोध पत्रिका

निकालता भी है या नहीं और इनमें कितने मौलिक लेख प्रकाशित होते हैं? वैसे भी पिछले 40-50 वर्षों में सरकारी अनुवादकों ने भाषा की सारी जीवंतता और लचीलेपन को निकाल इसे पूरी तरह एक प्राणहीन और नकली भाषा में बदल दिया है जिसने प्रकारांतर से यह सिद्ध करने में बड़ी भूमिका निभाई है कि हिन्दी किसी भी तरह के गंभीर विचारों और गहरे विश्लेषण के लायक है ही नहीं। संभवत: इसीलिए यह कहा जाता है कि हिन्दीवालों से ज्यादा हिन्दी फिल्मों और टेलीविजन ने हिन्दी फैलाने का काम किया है। यह बहुत ही भयावह तर्क है। सच यह है कि मास मीडिया ने हिन्दी को बाजारू भाषा में बदल दिया है।

दुख की बात यह है कि सरकारी हलकों से बाहर की संस्थाएं भी कमोबेश उसी मानसिकता का शिकार हैं जिसकी कि हिन्दी की सरकारी संस्थाएं। कविता, कहानी जरूरी है, फिल्म और टेलीविजन भी जरूरी है पर न तो साहित्य ही सब कुछ है और न ही फिल्म और टेलीविजन। ऐसे प्रयत्नों की आज सख्त जरूरत है जोकि साहित्येतर विषयों को महत्व देते हों। समाज विज्ञान, विज्ञान तथा विज्ञान के दर्शन पर लेखन का न होना अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। जैसे-जैसे यह अंतराल बढ़ेगा हिन्दी की क्षमता तो घटेगी ही साथ ही वह दिन भी दूर नहीं रहेगा जब कि हिन्दी भाषा से एक गौरवान्वित बोली में बदल जायेगी और तब अपनी भाषा में काम करने का जो एक नैतिक दबाव आज हम में से कुछ लोगों के सामने है, वह भी समाप्त हो जायेगा। विस्तार में न जा कर यह दुहराना जरूरी है कि ज्ञान के इस असंतुलित और इकतरफे फैलाव से सामाजिक असमानता तो बढ़ेगी ही बल्कि समाज पर कुछ वर्गों का वर्चस्व इस कदर मजबूत हो जायेगा कि बाकी देशवासियों के लिए आगे बढ़ने और अपनी प्रतिभा को अभिव्यक्त करने के सभी रास्ते बंद हो जाएंगे और तब एक नई वर्ण व्यवस्था सामने आयेगी जो हमारे समाज के बहुसंख्यक वर्गों की पीढ़ी दर पीढ़ी को दोयम दर्जे के काम करने के लिए अभिशप्त कर देगी। इस का दूसरा पक्ष यह है कि हमारा यह शासक वर्ग भी वैश्वीकरण के तंत्र में ऐसे सस्ते बौद्धिक मजदूर मुहैया करने का स्त्रोत बनेगा जो कि एक स्तर पर खुद तो शोषण का शिकार होगा ही, अपने ही समाज के शोषण को तेज करने में भी सहायक होगा।

सूचना क्रांति में मशीन अनुवाद की भूमिका

हेमंत दरबारी*

सूचना टेक्नॉलॉजी के क्षेत्र में हुई तीव्र क्रांति के फलस्वरुप सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। मशीन अनुवाद के क्षेत्र में कई दशकों से काम चल रहा है लेकिन नौवें दशक की शुरुआत में ही अनुवाद टेक्नॉलॉजी वास्तव में आर्टिफिशियल इन्टेलिजेन्स (कृत्रिम बुद्धि) और कम्यूटेशनल भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हुए अनुसंधान के फलस्वरुप अस्तित्व में आई। इसके परिणामस्वरूप पूर्व परिभाषित डोमेन के संदर्भ में मशीन अनुवाद सिस्टम का विकास हुआ। जैसा कि विदित है भारत एक बहुभाषी और बहु-सांस्कृतिक देश है जहाँ लगभग 90-95 करोड़ की आबादी और 18 प्रमुख भाषाएँ हैं। अत: इसे एक ऐसे अनुवाद सिस्टम की आवश्यकता है जिससे वह एक भाषा की रचना को यथासंभव दूसरी भाषा में परिवर्तित कर सके। इस जटिल क्षेत्र में कार्य करने के लिए सी-डैक ने पहल की है।

अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद के क्षेत्र में काम करने वाली अन्य संस्थाएँ हैं, जैसे-नेशनल सेंटर फॉर साफ्टवेयर टेक्नॉलॉजी जो न्यूज स्टोरी के अनुवाद पर काम कर रही है और इलेक्ट्रॉनिक अनुसंधान और विकास केन्द्र, नोयडा, जिसने स्वास्थ्य क्षेत्र के लिए एक मशीन साधित अनुवाद सिस्टम का विकास किया है। एक अन्य महत्वपूर्ण सॉफ्टवेयर का विकास हैदराबाद विश्वविद्यालय और आई. आई. टी., कानपुर के सहयोग से किया गया है। यह सॉफ्टवेयर भारतीय भाषाओं से भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने में सक्षम है।

---

*ग्रुप कोआर्डिनेटर, सेंटर फॉर डेवलपमेंट ऑफ एडवांस्ड कम्पयूटिंग, पुणे विश्वविद्यालय कैम्पस, पुणे

मंत्र-राजभाषा (MANTRA - Rajbhasha) - मशीन साधित अनुवाद उपकरण: भारत की भाषिक तथा सांस्कृतिक भिन्नता में एकता लाने के लिए हमारे संविधान निर्माताओं ने हिन्दी को राजभाषा घोषित किया। राजभाषा के संवैधानिक नियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार के सभी दस्तावेज हिन्दी और अंग्रेजी में होने चाहिए और साथ ही अंग्रेजी सह-राजभाषा के रूप में जारी रहेगी। तदानुसार अधिकांश राष्ट्रीय कामकाज अंग्रेजी में होता है। इस अनुवाद कार्य में सरकारी कार्यालयों के बहुत सारे अनुवादक जुड़े हुए हैं। अनुवादकों को इतने पैमाने पर अनुवाद करने में दिक्कत होती है जिसके परिणाम स्वरूप अनुवाद कार्य में अक्सर विलंब होता है।

सेंटर फॉर डेवलपमेन्ट ऑफ एडवांस्ड कंप्यूटिंग (सी-डैक) भारत सरकार के सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय की एक वैज्ञानिक संस्था है। इस संस्था का एक विभाग एप्लाइड आर्टिफिशियल इन्टलिजेन्स ग्रुप प्राकृतिक भाषा संसाधन, मशीन अनुवाद, भाषा शिक्षण और निर्णय सपोर्ट सिस्टम के क्षेत्र में काम कर रहा है।

इस अनुसंधान का एक मुख्य उद्देश्य बहुभाषीय मशीन अनुवाद सिस्टम का विकास करना भी है। इसलिए अगर हम अनेक भाषाओं (भाषा-1, भाषा-2,. .... भाषा-11) के बीच अनुवाद करना चाहते हैं तो हमें उतने ही पार्सर और जेनरेटर का विकास करना पड़ेगा क्योंकि हर भाषा में अनेकार्थी शब्द होते हैं जिनके कारण सही संप्रेषण में कठिनाई होती है। अपने सिस्टम को डिज़ाइन करते समय हमने इस बात पर पूरा ध्यान दिया कि पार्सिंग और जेनरेशन में लगने वाले समय को कैसे कम-से-कम किया जाए। उदाहरणार्थ, जब हमने अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद की परिकल्पना की तो हमने यह भी ध्यान रखा कि यदि अंग्रेजी से अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद करना हो तो केवल जेनरेटर और ट्रांसफ़र कोश को ही बदलना पड़े।

प्राकृतिक भाषा संसाधन के क्षेत्र की संभावनाओं का उपयोग करते हुए ए.ए.आई. ग्रुप ने ऑगमैंटेड ट्रांजिशन नेटवर्क (Augmented Transition Network-ATN) और टैग (Tree Adjoining Grammar TAG) की सहायता से दो पार्सर बनाए। टैग पार्सर (व्याकर्ता) अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती, संस्कृत और जर्मन भाषाओं का पार्स करता है। व्याकर्ता दिए हुए वाक्यों की

संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक पदव्याख्या करता है। यह एकीकरण से संबंधित तत्वों की जाँच भी करता है। पार्सर का उत्पादन डेरिवेशन वृक्ष (Derivation Tree) है। यह डेरिवेशन वृक्ष जेनरेटर को भेजा जाता है और जेनरेटर अंग्रेजी शब्दकोश, हिन्दी शब्दकोश और ट्रान्सफ़र (अंतरण) कोश की सहायता लेकर हिन्दी में उसका आउटपुट (output) देता है। इस कार्य को करते हुए हमने यह पाया कि मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में टैग फार्मेलिज़्म का प्रयोग पार्सर और जेनरेटर दोनों में किया जा सकता है। मंत्र - राजभाषा इन्हीं प्रयासों की एक प्रमुख उपलब्धि है। यह सिस्टम प्रशासनिक दस्तावेज़ों (पत्र/पारिपत्र) को अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करता है।

इस अनुवाद सिस्टम में न तो शब्द से शब्द, न ही नियम से नियम का उपयोग किया गया है बल्कि शब्द वृक्ष से शब्द वृक्ष का उपयोग किया गया है।

टैग व्याकरण (Tree Adjoining Grammar)

टैगं व्याकरण की मान्यता के अनुसार हर शब्द का अपना एक व्याकरण होता है जिसे वृक्ष के रूप में व्यक्त किया जाता है। इस व्याकरण (G) में (I) और (A) वृक्षों के परिमित समुच्चय हैं। I वृक्ष को आदि वृक्ष (Initial Tree) कहा जाता है और A वृक्ष को गौण वृक्ष (Auxiliary Tree) कहा जाता है। आदि वृक्ष का स्वरूप इस प्रकार होता है।

I =

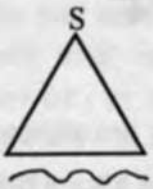

इसके अंतर्गत मूल नोड को S के रूप में और पत्तियों को टर्मिनल के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

गौण वृक्ष (Auxiliary Trees) का स्वरूप इस प्रकार होता है।

A =

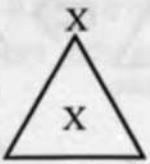

इसके अंतर्गत मूल नोड को अनंतिम X के रूप में और पत्तियों को एक नोड छाड़कर, जिसे पदनोड कहा जाता है, मात्र टर्मिनल के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

आदि और गौण दोनों ही प्रकार के वृक्षों पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि दोनों की संरचना न्यूनतम ही होती है। आदि वृक्ष के किसी अनंतिम नोड पर आवर्तन नहीं होता, जबकि गौण वृक्ष पर, जिसके मूल और पद नोड को X के रूप में दिया गया है, न्यूनतम आवर्तन संभव है। यदि X पर आवर्तन किया जाता है तो उसे व्यूत्पत्र रूप में लाया जाना चाहिए।

टैग व्याकरण की प्रक्रिया के दो घटक हैं : (1) प्रतिस्थापना (Substitution) और (2) अनुलग्न (Adjoining)

प्रतिस्थापना (Substitution) वह प्रक्रिया है जिसमें किसी नोड के स्थान पर समान मूल्य का कोई अन्य वृक्ष प्रतिस्थापित किया जा सकता है। निम्नलिखित आरेख में आदि वृक्ष Y को एक एंकर (Anchor) के रूप में प्रतिस्थापित किया गया है, जिसका वही नोड (अनंतिम) है जो आदि वृक्ष का है।

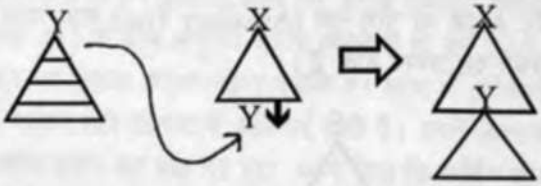

नीचे की ओर दिखाया गया बाण प्रतिस्थापनीय नोड को दर्शाता है।

अनुलग्न (Adjoining) वह प्रक्रिया है जिसमें किसी वृक्ष के एक नोड पर व्याकरण के अनुरूप एक या अधिक शब्द या पदबंध एक के बाद एक जोड़े जा सकते हैं। इसे इस प्रकार आरेखित किया जा सकता है :

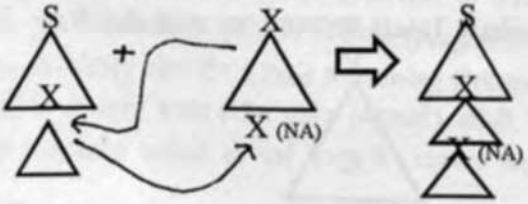

द्रष्टव्य है कि इस पैकेज में वास्तविक मशीन अनुवाद प्रक्रिया शुरू होने से पहले और बाद में दो प्रक्रियाएँ, Pre-Processing और Post-Processing, चलाई जाती हैं। प्रयोक्ता इन प्रक्रियाओं की सहायता से यदि आवश्यक हो तो प्रस्तुत किए जानेवाले पाठों को संशोधित कर सकता है। इसी प्रकार मशीन द्वारा अनुवाद हो जाने के बाद जरूरत के मुताबिक शैली से संबंधित थोड़ा-बहुत संशोधन भी किया जा सकता है। इस समस्त प्रक्रिया को आरेख द्वारा इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है :

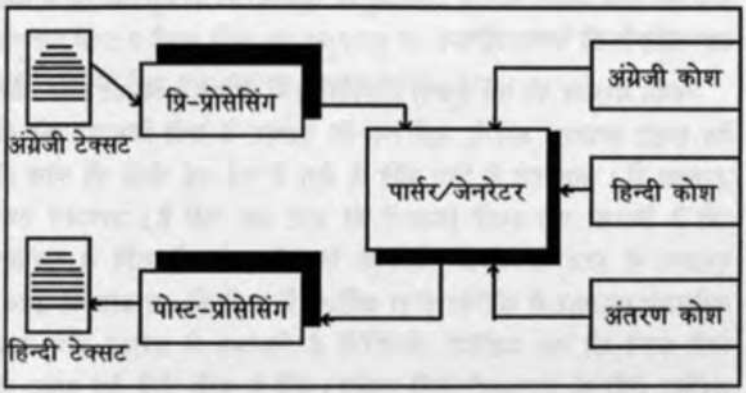

मंत्र- राजभाषा सिस्टम विकसित करते समय हमारा बल इन दो बिंदुओं पर विशेष रूप से रहा- (क) यथासंभव सही अनुवाद तथा (ख) गति। सही अनुवाद के लिए हमको एक ऐसे स्मार्ट साधन (टुल) का सृजन करना पड़ा जो लक्ष्यभाषा के समानार्थी शब्दों, वाक्यों, पदांशों, अभिव्यक्तियों और शैली रूपों का स्वत: सही निरूपण कर सके। हर वाक्य का एक ही अनुवाद लाने के उद्देश्य से हमने सक्षम व्याकरण बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया। गति को बढ़ाने के लिए नवीनतम उपकरणों द्वारा कॉर्पस का विश्लेषण किया गया। पार्सिंग एलगोरिदम में भी परिवर्तन किया गया। सक्षम डाटा संरचना की अभिकल्पना की गई और अनुवाद प्रक्रिया के चलते समय यदि कोई शब्द न मिले तो उस शब्द और उसके व्याकरण को तत्काल डाटाबेस में आसानी से डालने की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से एक रन-टाइम युक्ति की व्यवस्था भी की गई। इसके परिणामस्वरूप पार्सिंग समय और जेनरेशन (अनुवाद) समय काफी कम हो गया है।

संभवनाएँ

वेब आधारित टेक्नॉलॉजी हमारे सामाजिक संप्रेषण व्यवस्था का एक अटूट अंग बन रही है। इस माध्यम के जरिए सूचना का फैलाव समाज के आम आदमी के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में अपेक्षित परिवर्तन ला सकता है। इंटरनेट तकनीक की सहयता से आज हम आम आदमी को आवश्यक जानकारी उसकी क्षेत्रीय भाषा में प्रस्तुत कर सकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि आम आदमी के पास टेक्नॉलॉजी पहुँचेगी, न कि टेक्नॉलॉजी के पास आम आदमी को जाना पड़ेगा।

भारत सरकार की नई सूचना टेक्नॉलॉजी में प्रस्ताव है कि इंटरनेट और वेब साइट साधारण आदमी, यहाँ तक कि देशभर के सभी किसानों, को भी उपलब्ध हों। उदाहरण के लिए कृषि के क्षेत्र में नई-नई चीजों की खोज हो रही है जिनका पता हमारे किसानों को अभी तक नहीं है। उत्पादन तथा गुणवत्ता के स्तर को बनाये रखने के लिए किसानों को कृषि से संबंधित नवीनतम समाचार से परिचित होना चाहिए। किसानों को नए ब्रांड की उपज, खेती करने की नई पद्धतियों, बीमारियों के नियंत्रण के तरीकों और अन्य संबंधित क्षेत्रों की जानकारी होनी चाहिए। यदि ये सारी चीज़ें वेब साइट के जरिए अंग्रेजी में उपलब्ध होंगी तो कोई फायदा नहीं होगा क्योंकि आम अदमी अंग्रेजी समझ नहीं पाएगा।

हमारा उद्देश्य यह है कि हम यह जानकारी भी उसकी अपनी भाषा में उपलब्ध कराएं। इससे इंटरनेट प्रयोक्ता को तुरंत हिन्दी ऑन-लाइन अनुवाद मिलेगा। यह अनुवाद दर्पण साइट के रूप में हो सकता है या फिर हिन्दी में उस विषय की व्याख्या के रूप में। यह केवल किसानों और ग्रामीण समाज को सूचना ही नहीं देगा बल्कि उनको कंप्यूटर साक्षर भी बनाएगा। इसकी शुरूआत ग्रामीण समुदाय, ब्लॉक विकास अधिकारी या अन्य केंद्रों से की जा सकती है। इस टेक्नॉलॉजी का सही उपयोग पूरे देश के कृषि-परिदृश्य को बदल सकता है। हम काफी बेहतर उपज पैदा कर सकते हैं और अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में अपना स्थान कायम रख सकते हैं।

निष्कर्ष

स्पष्ट है कंप्यूटर साधित अनुवाद का विकास व्यवहार-क्षेत्रवार ही संभव है। सामान्य भाषा के लिए अनुवाद सिस्टम विकसित करना आज आसान नहीं है। हाँ, सीमित व्यवहार क्षेत्र को लेकर उसके भाषा-कॉर्पस का विश्लेषण कर एक मशीन अनुवाद सिस्टम विकसित हो सकता है। फिर दूसरे संबद्ध व्यवहार-क्षेत्र को लेकर उस प्रणाली का धीरे-धीरे विस्तार किया जा सकता है। स्मरण रहे कि सूचना टेक्नॉलॉजी में हुई क्रांति के फलस्वरूप जो भी मशीन अनुवाद सिस्टम तैयार होगा वह अनुवादक का स्थानापन्न नहीं होगा, बल्कि वह अनुवादक के लिए एक सहायक उपकरण सिद्ध होगा।

विश्व बाजार और हिन्दी

विजय कुमार गुप्त*

भाषा की निर्मिति हमेशा ही बाजार में हुई है। बाजार में कुछ खास जरूरतों के तहत मनुष्य एक दूसरे से जुड़ते हैं। उनके संबंध विकसित होते हैं। भाषा के रूप बनते हैं। बाजार में भाषा चीजों को परिभाषित करती है, चीजें भाषा को परिभाषित करती हैं। गांव की हाट से जिले की मंडी तक, जिला मंडी से प्रांतीय बाजार तक और वहां से राष्ट्रीय बाजार और अन्तर्राष्ट्रीय नेटवर्क तक बाजार के विकास के साथ-साथ मनुष्य संबंधों की अनेक स्तरीय यात्राएं भी हैं। ये यात्राएं बोलियों के परम्परागत रूप से प्रांतीय भाषाओं के मानक रूपों तक, प्रांतीय भाषाओं से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं तक की यात्राएं हैं। बाजार बदलते रहते हैं और भाषा भी। मनुष्य व्यवहारों के साथ भाषा हर क्षण बदलती रहती है। उसकी यह गतिशीलता ही उसकी जीवन्तता है।

भाषा एक ओर जहां बुनियादी जरूरतों के सम्प्रेषण का माध्यम बनती हुई निरंतर बदलती और विकसित होती रहती है, वहीं वह संस्कृति के कुछ शाश्वत मूल्यों की वाहक भी है। मनुष्य की नित बदलती जरूरतों की अभिव्यक्ति शब्दों में होती है पर इन्हीं शब्दों में मानव संवेदना की परम्परा के संचित रूप भी निहित होते हैं। यह संचयन एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती जाती है। भाषाएं भले ही हर क्षण बदलती और विकसित होती रहती हैं पर उनमें जन सामान्य के अनुभवों के सामूहिक स्मृति भंडार (मैमोरी बैंक) भी बसे रहते हैं। भाषा का बदलना और शाश्वत भी बने रहना इन दो विपरीत स्थितियों के संबंध ही भाषा की चर्चा को बेहद रोचक बना देते हैं।

पिछले एक दशक में पूंजी के असीम विस्तार और संचार साधनों के अभूतपूर्व

* महाप्रबन्धक (हिन्दी), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक

विकास ने विश्व बाजार और आर्थिक भूमंडलीकरण की जो भूमिका रची है, उसमें मुनाफा आधारित उत्पादन प्रणाली को दुनिया के नये बाजारों की जरूरत है। बंद दरवाजे खुल रहे हैं। सीमाएं टूट रही हैं, प्रतिबंध समाप्त हो रहे हैं। शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद बीसवीं सदी के अंतिम दशक में बदली हुई राजनीतिक स्थितियों और संचार उपकरणों में आयी क्रांति ने देशों के बीच भौगोलिक दूरियों और राष्ट्रीय सीमाओं को अप्रासंगिक बना दिया है। नयी बाजार संस्कृति इस आर्थिक भूमंडलीकरण का एक अनिवार्य हिस्सा है। विश्व बाजार अब तक स्वायत्त रहे समाजों और संस्कृतियों के रहन-सहन, भाषा-भूषा, दैनिक जीवन, आचरण और मूल्य-बोध का अपने तरीके से अनुकूलन कर रहा है।

आर्थिक भूमंडलीकरण की सांस्कृतिक प्रक्रिया का सबसे प्रमुख लक्षण यह दिखाई देता है कि उपभोग सामग्री के रूप में विश्व संस्कृति के प्रतीक सारे संसार पर हावी हो रहे हैं। इन प्रतीकों को बनाने और प्रचारित-प्रसारित करने में मीडिया की अभूतपूर्व ताकत का विलक्षण तरीके से उपयोग हो रहा है। स्थानीय और राष्ट्रीय संस्कृतियों का जनता के एक बड़े समूह के लिए बड़ा भावनात्मक अर्थ होता है। जबकि ग्लोबल-संस्कृति में ऐसी किसी जातीय स्मृति की अपील नहीं है। स्थानीय संस्कृति अपने भूगोल और समय से बंधी होती है, जबकि ग्लोबल-कल्चर पर ऐसा कोई दबाव नहीं है। यह एक विशृंखलित, समयहीन, विजड़ित संस्कृति है जो किसी भी भौगोलिक संदर्भ के बाहर खड़ी है माइकेल जैकसन या मैडोना का कोई संदर्भ संसार नहीं है, कोका कोला या मैकडॉनॉल्ड को बेचने वाले चरित्रों की देश-काल पर आधारित छवि नहीं है। ये सारी चीजें वास्तविक संसार के भीतर एक स्वरकल्पना का संसार रचते हुए उसमें वास्तविकता के अर्थों को आरोपित करती हैं। चूंकि यह संस्कृति परस्पर विरोधी स्वभाव वाले चरित्रों का एक अजीब संपुजन करती है और प्रौद्योगिकी पर आधारित है, इसलिए विश्व बाजार की यह नयी संस्कृति पहले की किसी भी ऐसी चीज से मेल नहीं खाती जो पूरी दुनिया में प्रचलित रही है। मीडिया आधारित छवियों के इस संसार में विभिन्न स्थानिक संस्कृतियां और भू-भाग एक गड्ड-मड्ड और मनचाहे तरीके से एक दूसरे के करीब रख दिये जा रहे हैं। यह एक खास तरह का घाल-मेल है जिसमें स्थानिकता और कॉस्मोपॉलिटन का एक दूसरे पर आरोपण है।

विज्ञापन और छवियों का खेल इस नयी बाजार संस्कृति का मूल अस्त्र है। यह बाजार लोगों के भीतर स्वप्न और इच्छाएं जगाता है। उनके भीतर समानों

से जुड़ी हुई नयी जरूरतें पैदा करता है। यह सारे संसार में एक समान व्यावसायिक जीवन शैली, रहन-सहन, खान-पान, सौंदर्य चेतना और मूल्य बोध की एकरूपता पैदा कर रहा है। मुनाफा कमाने की इस रणनीति में सांस्कृतिक रूपों की एक नयी गतिशीलता तैयार हो रही है। व्यवसाय और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू बन गये हैं। वास्तुशिल्प, विज्ञापन, फैशन, संगीत, फिल्म, खेल जगत, घटनाएं, भव्य आयोजन, पूंजी प्रचार अभियान के क्षेत्र में इस नये छवि-संसार को देखा जा सकता है।

बाजार विस्तार की यह रणनीति स्थानीय विविधताओं या बहुलताओं में विश्वास नहीं करती पर अपनी प्रभावोत्पादकता बढ़ाने के लिए स्थानिक तत्वों को अपने भीतर आत्मसात करती जा रही है। एक तरफ उन्नत संचार प्रणालियों और बहुराष्ट्रीय निगमों के छवि निर्माण विभागों द्वारा सांस्कृतिक वर्चस्व का अभियान चलाया जा रहा है और दूसरी ओर इस विश्व बाजार का स्थानिक सांस्कृतिक तत्वों की गतिशीलता के बिना काम भी नहीं चलता। स्थानीय भाषाएं इन अर्थों में विश्व बाजार के लिए महत्वपूर्ण साधन बन गयी हैं। ये भाषाएं भूमंडलीय उपभोक्ता संस्कृति को स्थानीय परिवेश में अरोपित करने की भूमिका निभाती हैं। इस तरह स्थानीय संस्कृति भूमंडलीय संस्कृति के रूपाकारों को अपना रही है, वहीं भूमंडलीय संस्कृति भी अलग-अलग भौगोलिक परिवेशों में वहां के तत्वों के मिश्रण से अपना चोला बदल रही है। जियो-पॉलिटिकल और जियो-कल्चरल नक्शे भविष्य में अर्थहीन होते जाएंगे।

हम समझते हैं कि विश्व बाजार की इस सांस्कृतिक पीठीका को किंचित विस्तार से रेखांकित करने के बाद हमारे अपने देश के संदर्भ में हिन्दी भाषा से उसके बनते हुए संबंधों को देखा जाना चाहिए। सामाजिक गतिशीलता में भाषा हमेशा एक जटिल फिनोमिना बनकर उभरती है। भाषा की सामाजिक दशा का अध्ययन करते हुए दो स्पष्ट आयाम सामने आते हैं- एक तो वह कैसे काम कर रही है और दूसरे सामाजिक यथार्थ के एक वाचिक या लिखित व्यवहार के रूप में वह किन सामजिक संदर्भों को उजागर कर रही है। विश्व बाजार के सांस्कृतिक पहलुओं को भारतीय समाज की अंदरूनी तहों में प्रवेश कराने में हिन्दी की एक बहुत विशिष्ट भूमिका बन गयी है। हमारे यहां लगभग 100 करोड़ की आबादी में 18 करोड़ लोगों की मातृभाषा हिन्दी है, 30 करोड़

लोग इस भाषा का उपयोग दूसरी भाषा के रूप में करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि लगभग 22 करोड़ लोग किसी-न-किसी रूप में हिन्दी भाषा के सम्पर्क में आते ही हैं। अर्थात 100 करोड़ की आबादी में यदि 70 से 75 करोड़ लोग एक भाषा के व्यवहार से जुड़ते हैं तो वह भाषा स्वभावत: बाजार शक्तियों के इस्तेमाल के लिए एक प्रभावशाली उपकरण बन जाती है। संख्या के हिसाब से यह विश्व में तीसरे स्थान पर मानी जाती है।

पिछले एक दशक के दौरान जब विदेशी कंपनियां व्यापार के लिए हमारे यहाँ आयीं तो उनका हमारी देशी भाषाओं के साथ एक खास स्तर पर सम्मिलन होने लगा, हिन्दी के साथ विशेष तौर पर। बाहरी सांस्कृतिक संदेश चोला बदलकर हमारे समाज की अंदरूनी तहों में उतरने लगे। 90 के दशक में हॉलिवुड के एक बड़े फिल्म निर्माता स्टीफन स्पिलबर्ग ने जब अपनी बहुचर्चित फिल्म 'जुरासिक पार्क' को हिन्दी में डब किया तो वे जैसे कि एक कारपोरेट रणनीति के लिए नये दरवाजे खोल रहे थे। 'जुरासिक पार्क' हिन्दी में 'डब' होकर देश के छोटे-छोटे कस्बों और गांवों तक पहुंच गयी। इसके पहले किसी विदेशी फिल्म ने भारत में इतना मुनाफा नहीं कमाया था। रूपर्ट मर्डोक जब स्टार टीवी लेकर भारत में आये तो उनकी सबसे बड़ी प्राथमिकता यही थी कि सभी तरह के कार्यक्रम हिन्दी में तैयार किये जाएं। यहां सिर्फ देशी भाषा में अनुवाद की बात नहीं थी, बल्कि उससे एक कदम आगे बढ़कर विदेशी सांस्कृतिक छवियों को देशी मिजाज के अनुकूल गढ़ना था। स्टार टी वी ने अंग्रेजी कार्यक्रमों के माध्यम से भारत के शिक्षित शहरी वर्ग को लुभाया पर एक विशाल दर्शक वर्ग तक पहुंचने के लए उसके पास कोई देशी मिजाज की सामग्री नहीं थी। 5 प्रतिशत से कम की दर्शक रेटिंग किसी विदेशी टी वी कार्यक्रम का इतना आर्थिक आधार नहीं बनाती कि प्रायोजक विज्ञापन लेकर उस कार्यक्रम की तरफ दौड़ें। परिणामस्वरूप स्टार टी वी ने न केवल समाचारों और विदेशी कार्यक्रमों को हिन्दी में दिखाना शुरू किया बल्कि उसने पॉप संगीत के देशी संस्करण भी बना डाले। थोड़े ही अरसे के भीतर हिन्दी की ढब में ढले ये पश्चिमी कार्यक्रम मूल अंग्रेजी कार्यक्रमों से ज्यादा लोकप्रिय होने लगे। बीबीसी और डिस्कवरी चैनल अपने कार्यक्रमों को हिन्दी में भी प्रसारित करने लगे। आज लगभग सभी प्रमुख चैनलों पर बहुतायत हिन्दी कार्यक्रमों की है।

यह विश्व बाजार का हिन्दी भाषा के साथ बनने वाला एक नयी तरह का संबंध है। पिछले एक दशक में साबुन और टूथ पेस्ट जैसी सस्ती सामग्री से कहीं आगे जाकर अब उपभोक्ता-विज्ञापन मोटर साइकिल, कार, फ्रिज, टीवी, वाशिंग मशीन, महंगी प्रसाधन सामग्रियों, कीमती वस्त्रों, बचत और निवेश की योजनाओं आदि के लिए भी हिन्दी में बन रहे हैं। भागलपुर, बाराबंकी या भरतपुर में किसी सड़क के चौराहे पर अब आप वाशिंग मशीन या फ्रिज की हिन्दी में बनी होर्डिंग्स देख सकते हैं। भारत में उपभोक्ता वस्तुओं के बाजार का विस्तार हो रहा है। उपभोक्ता वस्तुएं प्रांतीय राजधानियों और प्रथम श्रेणी के शहरों से आगे निकलकर मध्यम दर्जे के शहरों, नींद में अलसाये कस्बों और दूर-दराज के गांवों तक पहुंच रही हैं। छोटे-छोटे कस्बों में ब्यूटी पार्लर खुल रहे हैं। रेबेन के चश्मे पहने कस्बाई युवक इतरा रहे हैं। दूसरे दर्जे के रेल यात्रियों के लगेज की शक्लें बदल रही हैं। दूर-दराज के इलाकों में बैंकों के क्रेडिट कार्ड और 'ए टी एम' सेंटर खुल रहे हैं। एक अध्ययन के अनुसार भारत में 30 करोड़ का मध्यमवर्गीय उपभोक्ता बाजार मौजूद है जो दुनिया के बहुत सारे देशों की आबादी से कहीं अधिक बड़ा है। हिन्दी के घोड़े पर सवार उपभोक्ता बाजार महानगरों की सीमाओं से बाहर निकल रहा है। कुछ वर्ष पहले एक अखिल भारतीय वित्तीय संस्था ने 700 करोड़ रुपये के अपने बांडों का देशभर में विज्ञापन किया था। एक संसदीय प्रश्न के जवाब में उसे यह बताना था कि 40 करोड़ रुपये के प्रचार बजट को उसने कितना अंग्रेजी में खर्च किया है, कितना हिन्दी में। स्वयं वित्तीय संस्था के उच्च अधिकारियों को इसकी कोई ठोस जानकारी नहीं थी। विज्ञापन एजेंसी से जब विस्तृत सूचना मांगी गयी तो कुछ दिलचस्प आंकड़े सामने आये। तथ्य यह था कि एक आक्रामक बाजार रणनीति के तहत धुआंधार रेडियो, टेलिविजन, प्रचार होर्डिंग, समाचार पत्रों के विज्ञापन और हैंड बिलों के माध्यम से प्रचार राशि का 70 प्रतिशत हिस्सा हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं पर खर्च किया गया था और केवल 30 प्रतिशत अंग्रेजी पर यह सब उस विज्ञापन एजेंसी ने बिना किसी सरकारी राजभाषा आदेश के स्वयं अपनी व्यावहारिक बाजार रणनीति और अपने ग्राहक सर्वेक्षण के आधार पर किया था। आज उपभोक्ता सामग्री बनाने वाली बहुत सी बहुराष्ट्रीय कंपनियां वस्तुओं के साथ दिये जाने वाला लिटरेचर हिन्दी में भी छाप रहीं हैं। पर यह तस्वीर का एक पहलू है। विश्व बाजार की

शक्तियों द्वारा भारत में एक माध्यम के रूप में हिन्दी का यह इस्तेमाल भारतीय समाज में परिवर्तन की मूलगामी शक्तियों के बारे में हमें आश्वस्त नहीं करता। बल्कि इस सारी प्रक्रिया में हिन्दी भाषा की एक विडम्बनात्मक स्थिति को ही हमारे सामने उजागर करता है। यह बाजार की शक्तियों द्वारा हिन्दी भाषा की सामाजिक सम्प्रेषण की अन्तर्निहित क्षमताओं का अपने ढ़ंग से अनुकूलन करना है। यदि वास्तव में बाजार की शक्तियों के साथ हिन्दी का विकासपरक संबंध बन रहा होता तो हिन्दी भाषा बाजार के तकनीकी पहलुओं के साथ भी उतनी ही तीव्रता से जुड़ रही होती।

यह सर्वविदित है कि विश्व बाजार में कम्प्यूटर, इन्टरनेट, वेब साइट और सेल फोनों की एक अहम भूमिका है। मुंबई, बेंगलौर, न्यूयार्क, लंदन, तोक्यों, दुबई, सिंगापुर, क्वालालम्पुर, सिडनी और ब्यूनसआयर्स के प्रभावशाली लोगों की एक ही भाषा है। इनके पास आर्थिक और राजनीतिक ताकत है। ये लोग एक कॉस्मोपॉलिटन, वैश्विक उपभोग मूलक विश्व संस्कृति के नुमाइन्दे हैं। सोनी, मर्डोक, एम. टी वी, मैकडॉनॉल्ड, सी. एन. एन, मित्सुबिशी, फिलिप्स, लेवीस, नैसले, माइक्रोसोफ्ट, इन्टेल जैसे विशाल निगमों का सारा कार्य व्यापार अंग्रेजी के माध्यम से हो रहा है। सच्चाई यह है कि इस नये सूचना समाज की यह 1 प्रतिशत आबादी सारे संसार की 99 प्रतिशत आबादी को नियंत्रित करती है। शेष 99 प्रतिशत आबादी जो कम्प्यूटर शिक्षित नहीं है, जो बढ़िया अंग्रेजी नहीं बोल सकती, जो इन्टरनेट, वेबसाइटों और सेल्युलर फोनों का इस्तेमाल नहीं कर पा रही, वह न सिर्फ इस नये शासक वर्ग से नियंत्रित है, बल्कि वह इस नये ग्लोबल इलेक्ट्रॉनिक बाजार के फायदों से भी वंचित है।

भारत विश्व बाजार की टक्नॉलाजी से जुड़ तो रहा है पर केवल अंग्रेजी के माध्यम से। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं की इन आधुनिक संचार साधनों में कोई उपस्थिति नहीं है जबकि विडम्बना यह है कि 95 प्रतिशत भारतीय जनता हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही अपनी दैनिक जरूरतों को पूरा करती है। दुनिया की एक बटा छह प्रतिशत आबादी का 'सूचना युग' और आधुनिक संचार प्रणालियों से कटे रहना न सिर्फ भारत की राजनीतिक, सामाजिक और तकनीकी स्थितियों के बारे में सवाल खड़ा करता है, बल्कि यह विश्व बाजार के लिए भी एक चुनौती बन जाता है। दूसरी ओर यह बात भी बेहद महत्वपूर्ण है कि गैर-अंग्रेजी सॉफ्टवेयर के विकास का मसला

सिर्फ एक तकनीकी निर्णय नहीं है, यह भारतीय समाज की राजनीतिक सांस्कृतिक जटिलताओं से भी सीधे जुड़ा हुआ है।

इस समय विश्व बाजार में 80 प्रतिशत सॉफ्टवेयर पैकेज अमरीकी कंपनियों द्वारा बनाये जाते हैं। उनका लक्ष्य समूह अंग्रेजी में व्यवहार करने वाला ग्राहक रहा है। लेकिन स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप इन सॉफ्टवेयर कार्यक्रमों का विश्व की अन्य भाषाओं में स्थानीयकरण भी किया गया है। यूरोप की कई प्रमुख भाषाओं जैसे फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, नोर्वेजियन, फिनिश और स्वीडिश में ये सॉफ्टवेयर उपलब्ध हैं। बल्कि इन्हें प्रयोग करने की सुविधा केटालॉन, रेहटो-रोमन भाषा और आइसलैंडिक जैसी अपेक्षाकृत कम प्रमुख भाषाओं में भी उपलब्ध है। फाएरो द्वीप समूह की भाषा के लिए भी ऐसे सॉफ्टवेयर उपलब्ध हैं, जबकि वहाँ की कुल आबादी केवल 38 हजार है। अमेरीकी कंपनियों के ये सॉफ्टवेयर कज़ाक या उज्बेक भाषाओं के लिए भी उपलब्ध हैं। नार्वे की उत्तरी पहाड़ियों में रहने वालों के लिए विन्डोज एन. टी. का स्थानीय संस्करण तैयार किया गया है पर बिहार या उत्तर प्रदेश की जनसंख्या के लिए ऐसा कोई कार्यक्रम हाथ में नहीं लिया गया। सॉफ्टवेयर पैकजों का अधिकांश भारतीय भाषाओं में स्थानीयकरण नहीं किया गया है, जबकि केवल हिन्दी बोलने वालों की संख्या ही आज विश्व में तीसरे स्थान पर है। हिन्दी लगभग उतनी बोली जाती है जितनी अंग्रेजी या स्पेनिश बोली जाती है। इस स्थिति के लिए क्या कारण हो सकते हैं?

अमरीकी कंपनियों द्वारा विकसित सॉफ्टवेयरों को यहाँ की स्थानीय भाषाओं में न ढाल पाने का एक बड़ा कारण तो आर्थिक ही है। कोई भी सॉफ्टवेयर निर्माता कंपनी किसी स्थानीय विशेषता के अनुरूप सॉफ्टवेयर तभी बनायेगी जब उस उत्पाद के लिए बाजार उपलब्ध हो या भविष्य में उस मांग के बनने की संभावना उसे दिखती हो। भारतीय भाषाओं में सॉफ्टवेयर पैकजों की मांग न होने की वजह से सॉफ्टवेयर बनाने वाली वे भारतीय कंपनियाँ भी इन पैकेजों के विकास पर ध्यान नहीं देती, जो विदेशी बाजारों में अग्रणी भूमिका निभा रही हैं। आजादी के पाँच दशक बाद भी भारत में यदि विभिन्न राज्य सरकारों, कारपोरेट जगत और संम्पन्न वर्ग के आपसी व्यवहार की भाषा अंग्रेजी ही बनी हुई है तो भारतीय भाषाओं के लिए सॉफ्टवेयर मार्केट क्यों कर विकसित होगा?

लेकिन इसके बावजूद कुछ बातों को नजरंदाज करना किसी के भी लिए मुश्किल है। भारत में दुनिया का सबसे बड़ा मध्यमवर्ग है। भारत में तेजी से विकसित होता हुआ एक औद्योगिक क्षेत्र है। हालांकि विश्व में आर्थिक मंदी की स्थितियों के कारण इस समय हमारी समग्र औद्योगिक विकास दर 2.9 प्रतिशत है, पर यदि हमारी औद्योगिक विकास दर आने वाले समय में एक सम्मानजनक स्तर पर पहुँचती है तो अधिकाधिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों, व्यापारिक घरानों, बैंकों, शिपिंग कंपनियों, खुदरा व्यापारियों, पुस्तकालयों, पोस्ट आफिस कार्यालयों, मीडिया एजेंसियों आदि का यहाँ की आम जनता के साथ सम्पर्क बढ़ेगा और भारतीय भाषाओं में कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर का बाजार विकसित होने की संभावनाएं जन्म ले सकती हैं। चीनी भाषा तकनीकी दृष्टि से हिन्दी भाषा से बहुत अधिक जटिल है, इसके बावजूद अमरीकी कंपनियों ने चीनी भाषा में अपने सॉफ्टवेयर कार्यक्रम बनाये हैं, क्योंकि चीन में विकसित होता हुआ एक विशाल बाजार है।

फिर भी सच यह है कि तकनीकी साधनों में देशी भाषाओं के प्रयोग का मुद्दा केवल एक आर्थिक और तकनीकी मुद्दा ही नहीं है, यह देश के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश से सीधे जुड़ा हुआ है। भारत में मुट्ठी भर अभिजात वर्ग सारे कार्य-व्यापार का नियामक है और इस वर्ग की भाषा हिन्दी नहीं है। तकनीकी सुविधाओं के हिन्दी में उपलब्ध हो जाने के बाद भी जब तक कारोबार की संस्कृति और सोच की दिशा में बुनियादी परिवर्तन नहीं होता तब तक अन्य सारी प्रगति का कोई अर्थ नहीं है। जब तक संचार क्रांति को जन-समाज से वास्तविक अर्थों में जोड़ने की इच्छा शक्ति नहीं जागती, तब तक समाज में अधिकार-सम्पन्न वर्ग और साधनहीनों के बीच की वर्तमान खाई न केवल बनी रहेगी, बल्कि लगातार बढ़ती ही जायेगी। बदलाव और विकास दो अलग धारणाएं हैं। विकास का संबंध जीवन स्तर की प्रगति, शिक्षा, स्वास्थ्य, संसाधनों और आर्थिक व सामाजिक अधिकारों से जुड़ा हुआ है। केवल बाजारवाद से गरीबी दूर नहीं हो सकती। उसमें आर्थिक प्रक्रिया में लोगों का शामिल होना, स्वास्थ्य, शिक्षा और सम्प्रेषण की तकनीकों का सुधरना, सामाजिक सुरक्षा का विस्तृत होना, निर्णय लेने की प्रक्रिया में आम लोगों की सहभागिता और उनकी उत्पादनशीलता का बढ़ना भी आवश्यक है। आर्थिक विकास और सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं के इन्हीं संबंधों में भाषा की भूमिका अहम् हो जाती है।

सामान्यतया भाषा का विकास उसके बोलने वालों की विविध आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। मनुष्य केवल आर्थिक प्राणी ही नहीं है। उसके सामाजिक, नैतिक और सौंदर्यबोध के मूल्यों को भी भाषा अभिव्यक्त करती है। राष्ट्र के उत्थान में भारतीय भाषाओं की विशेषकर हिन्दी की आज़ादी के पहले जो भूमिका रही है वह सर्वविदित है। आज़ादी के संघर्ष में यह साधारण और मेहनतकश जनता की मुक्ति की आकांक्षाओं की भाषा थी। इस भाषा में व्यापक जनता के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक आशय व्यक्त होते थे। अंग्रेजी के वरअकस यह भाषा एक काउंटर-फोर्स का रूप ले रही थी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हिन्दी भाषा संख्या की दृष्टि से संसार के समृद्ध देशों की भाषाओं के बीच एकाएक खड़ी तो हो गयी लेकिन नये ज्ञान-विज्ञान से उसका सार्थक रिश्ता कभी बनाया नहीं गया। यह भाषा अधिक-से-अधिक केवल साहित्य, पत्रकारिता और मनोरंजन की भाषा बनकर रह गयी है। इस भाषा को बोलने वालों की व्यापक आकांक्षाओं को हमारे यहां शक्ति केंद्रों ने हमेशा ही दबाया है। विज्ञान, कला, प्रशासन, वाणिज्य, चिकित्सा, विधि, प्रबंध विज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि में हिन्दी के माध्यम से न तो कभी उच्च स्तर की शिक्षा की कोई व्यवस्था हुई और न ही उसे दैनंदिन काम-काज से जोड़ा गया। इस दिशा में जो थोड़े-बहुत कार्य होते रहे हैं, उनकी प्रकृति औपचारिक, दिखावटी और प्रवंचनापूर्ण ज्यादा है। हमारा शासक वर्ग जानता है कि एक बड़े जनमानस की भाषा को दबाया नहीं जा सकता, लेकिन साथ ही उसे वास्तविक विकास की ओर उन्मुख भी नहीं करना है। इसका सबसे बड़ा कारण शक्ति केन्द्रों की वह औपनिवैशिक मानसिकता है जिसमें आमूल चूल परिवर्तन की कोई इच्छा शक्ति ही कहीं दिखाई नहीं देती। हिन्दी को सरकारी संरक्षण ने एक आत्मप्रवंचना की स्थिति में पहुंचा दिया हैं। अंग्रेजी जानने वाले कुछ लोग देश की 90 करोड़ जनता को हांकते हैं। औपनिवैशिक शिक्षा के संस्कारों ने इन लोगों को गरीब जनता से नफरत करना सिखाया है। इन सत्ता-पुरूषों की एक अलग जीवन-संस्कृति है और भाषिक अलगाव उसका सबसे बड़ा अस्त्र है। सच्चाई यह है कि आज़ादी के बाद के इन तमाम दशकों में सरकारी कार्यालयों और संस्थानों में राजभाषा हिन्दी का जो प्रयोग अब तक बढ़ा है, वह एक संविधानिक आवश्यकता को पूरा करने की औपचारकिता के रूप में ही अधिक बढ़ा है। सरकारी कार्यालयों में हिन्दी अधिकारियों, अनुवादकों, टाइपिस्टों और द्विभाषिक फार्मों की संख्या कामकाज में

हिन्दी के महत्व को प्रदर्शित नहीं करती है, बल्कि एक सिनिकल और आत्मदया की स्थिति का ही निर्माण करती है। सरकारी कार्यालयों में इन हिन्दी अधिकारियों और अनुवादकों की फौज इसलिए खड़ी की गयी है ताकि ये हिन्दी को एक प्रदर्शन की वस्तु में बदल डालें। संस्थानों में हिन्दी अधिकारी और हिन्दी अनुवादक अंग्रेजी की मुख्यधारा में हिन्दी के द्वीप बने बैठे हुए हैं जबकि संस्थान की सारी कार्य-संस्कृति अंग्रेजी में ही बनी रहती है, उसमें रत्ती भर भी बदलाव नहीं आता।

बाजार में हिन्दी की वास्तविक प्रगति तो तभी देखी जा सकती है जब वह सम्प्रेषण, कार्यकुशलता और लाभप्रदता की तमाम कारपोरेट योजनाओं का एक अनिवार्य और अभिन्न अंग हो। वह आर्थिक कारोबार की समूची संस्कृति और संस्कार को अभिव्यक्त करने वाली भाषा हो। आज केवल माल बेचने और गाँव-कस्बों में नये बाजार बनाने के लिए हिन्दी का जो प्रयोग हो रहा है, वह एक तदर्थ और व्यावहारिक उद्देश्य के लिए है, किसी व्यापार आदर्श, राष्ट्र निर्माण या मूलगामी परिवर्तन के लिए नहीं। कारोबार में किसी उच्च प्रशासनिक बैठक का वार्तालाप हिन्दी में नहीं होता, कोई रिसर्च पेपर या व्यावसायिक रिपोर्ट हिन्दी में नहीं लिखी जाती, कोई कार्य-प्रशिक्षण हिन्दी में नहीं दिया जाता, कोई कार्यालय नोट या व्यावसायिक विश्लेषण हिन्दी में तैयार नहीं होता। कारपोरेट संस्कृति में हिन्दी के लिए कोई जगह नहीं है।

व्यावसायिक लाभप्रदता, परिवर्तन और भाषा के आपसी संबंध-सूत्र खोजने के बारे में आज भी कोई ठोस कार्यक्रम नहीं है। विज्ञापन एजेंसियों में सारे विज्ञापन पहले अंग्रेजी में बनते हैं, बाद में जैसे-तैसे उनका कामचलाऊ अनुवाद कर दिया जाता है। सरकारी कार्यालयों में हिन्दी के नाम पर अनुवाद की ऐसी कृत्रिम और अटपटी भाषा तैयार हुई है जो आम जनता के लिए अंग्रेजी जितनी ही दुरूह है। छोटे-छोटे गांवों और कस्बों से शक्ति केंद्रों की ओर आने वाली आम जनता सरकारी कार्यालयों की इस कृत्रिम हिन्दी को अपना नहीं पाती क्योंकि इस हिन्दी का भाषिक रजिस्टर आम जनता की बोलियों से निर्मित नहीं है। यह भाषा भारत की विशाल जनता से संवाद की किसी बुनियादी इच्छा पर आधारित ही नहीं है। वह नये ज्ञान-विज्ञान और सूचना को आत्मसात कर उसे जातीय संस्कार देना नहीं चाहती। इसलिए अनुवाद की भाषा के वाक्य-विन्यास में कहीं आत्मीयता का पुट नहीं है। वह संस्कार के स्तर पर निवैयक्तिक और जड़ाऊ भाषा है। अनुवाद की इस कार्य

संस्कृति में परिवर्तन की किसी व्यापक राजनीति का स्वप्न अनुपस्थित है। यदि ऐसा न होता तो कामकाज की इस हिन्दी भाषा में वह जीवन्तता और तनाव दिखायी देते जो एक भारतीय समाज में व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को प्रतिबिंबित कर रहे होते। दरअसल भाषा का यह रूप वर्चस्व की उन्हीं ताकतों की नाभि-नाल से जुड़ा हुआ है, जो तमाम सार्वजनिक जीवन और उसकी आकांक्षाओं का संस्थानीकरण करती रहती हैं।

अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के साथ निश्चय ही आने वाले वर्षों में निजी क्षेत्र का प्रभाव काफी बढ़ेगा। क्या पश्चिम से आयातित विचारों, तकनीक और जीवन शैली के साथ-साथ अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ता नहीं जायेगा? सीमित स्वार्थों के लिए व्यापार जगत में हिन्दी और भारतीय भाषाओं को व्यापक जन-समाज में बुनियादी परिवर्तन की आकांक्षाओं से काटते हुए निरन्तर अंग्रेजीमय बनाते जाना कुछ नयी अजीबोगरीब स्थितियों को जन्म देगा। यह विरूपीकरण हमारी व्यापारिक संस्कृति में दिखाई भी पड़ने लगा है। टेलिविजन पर उपभोक्ता सामग्री के विज्ञापनों में हम इस विरूपीकरण को देख रहे हैं। हिन्दी और अंग्रेजी की अजीबोगरीब खिचड़ी को भाषा का कोई विकसित रूप नहीं कहा जा सकता। भाषा की अशुद्धता आपत्तिजनक नहीं है। आपत्तिजनक यह है कि यह नयी खिचड़ी भाषा ऐसी खाते-पीते वर्ग की जीवन-शैली और मूल्यों को प्रदर्शित करने वाली भाषा है जिसका जीवन-दर्शन ही भोग-विलास, शोषण, स्वार्थ, बर्बरता, स्पर्धा और आत्मकेंद्रितता पर टिका है। इस खिचड़ी भाषा में वंचित जनता की मार्मिक स्थितियों की कोई छवि नहीं है, उनके जीवन का कोई तनाव व्यक्त नहीं होता।

विश्व बाजार की नयी स्थितियों में यही हिन्दी भाषा की सबसे बड़ी विडम्बना है। हिन्दी भाषा को उसके मूल स्वभाव और आाकांक्षा से दूर किया जा रहा है। हिन्दी केवल माल बेचने की भाषा बन रही है। वह केवल लालसाओं और मरीचिकाओं की भाषा बन रही है। वह एक ऐसे चमकीले संसार का हिस्सा बन रही है, जिसका भारत की करोड़ों की संख्या में अल्पशिक्षित और मूक जनता से कोई संबंध नहीं। जनता इस स्थिति को केवल मुंह बाये खड़े देख रही है। भाषा को उसके बुनियादी संस्कार से काट देने में मीडिया की यह भूमिका भविष्य में और अधिक बढ़ती जायेगी। भाषिक प्रयोग में जनता की अपनी स्मृतियाँ जुड़ी होती हैं। भारत की विशाल अल्पशिक्षित और साधनहीन जनता खाते-पीते वर्ग की मस्ती, उपभोग, अय्याशी और हिंसा को प्रतिदिन टेलिविजन पर अपनी भाषा के

माध्यम से प्रकट होते देख रही है। यही विश्व बाजार में आज हिन्दी की कुल भूमिका है। वह सामाजिक अन्तरालों को फैलाने के खेल में शामिल हो चुकी है। अपनी भाषा में बुने गये लालसाओं के ये स्वप्न आम जनता को अपने ही कहीं पड़ोस में घटते हुए दिखायी देते हैं पर फिर भी ये उसका अपना संसार नहीं रचते। उसकी अपनी भाषा ही उससे छीनी जा रही है। सामाजिक द्वंद्व में अपनी भाषा उसका एक बड़ा अस्त्र था। अब यह अस्त्र भी उससे छीन लिया जा रहा है, वह गूंगा होता जा रहा है। इसी स्थिति को देखकर हिन्दी कवि रघुवीर सहाय ने अपनी एक कविता में लिखा था-

"अंग्रेजी इसे कह नहीं सकती और तुम्हारी हिन्दी
वह इसे कह नहीं पायेगी अगले साल"

विश्व बाज़ार और हिन्दी

राजेश्वर गंगवार*

विश्व के दूसरे देशों के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों की परंपरा बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी कि आज इतिहास में उनका उल्लेख खोजना भी अनुसंधान की चीज है। लेकिन जिन देशों से भारत का व्यापार था उन देशों की सभ्यता और संस्कृति की कहानी उन संबंधों का बयान करती है। उन देशों की सभ्यता और संस्कृति भारत की सभ्यता और संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित है। पूर्वी एशिया के अनेक देशों के नाम तक भारतीय हैं- सुमात्रा, जावा (जो संस्कृत शब्द यव से बना है), मलय (जो रोमन लिपि के प्रभाव से मलाया हो गया), कंभोज, (जो अंग्रेजी के प्रभाव से बदलकर कंबोडिया हो गया) हिंदचीन (आधुनिक नाम इंडोचाइना) आदि नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशों से व्यापार और धर्म-प्रचार के लिए भारत के जो संबंध अतीत में बने थे, वे कालांतर में क्षीण होते गये। भारत का व्यापारिक और आर्थिक प्रभाव वहां कम होता गया और उन देशों पर दूसरे देशों का प्रभाव बढ़ता गया।

अधिक विस्तार में न जाते हुए यह कहना पर्याप्त होगा कि भारत के विदेशों से व्यापारिक संबंध सदियों नहीं, सहस्राब्दियों पुराने हैं। यदि यह सच है तो उस समय भारत तथा विदेशों के बीच संपर्क और व्यापारिक संबंधों के निर्वाह की भाषा कौन-सी थी? यह शोध का विषय हो सकता है, किंतु इस तथ्य को जानने के लिए किसी शोध की आवश्यकता नहीं है कि वह संपर्क भाषा अंग्रेजी नहीं थी, क्योंकि तब इंग्लैंड तक की भाषा अंग्रेजी नहीं थी। मध्य युग तक इंग्लैंड फ्रांसीसी भाषा के वर्चस्व से आक्रांत रहा था।

*महाप्रबन्धक, भारतीय रिज़र्व बैंक, मुंबई

यह सच है कि प्राचीन काल में विदेशों के साथ व्यापारिक संबंध इतने अधिक नहीं थे, जितने आज हैं। न तो व्यापार की मात्रा इतनी अधिक थी और न ही इतनी व्यापकता। न ही विश्व के तमाम देश एक बाज़ार बन पाये थे। आज भारत के व्यापारिक संबंध दुनिया के सभी देशों से हैं। इन सभी देशों की कोई एक भाषा नहीं है और न ही अंग्रेजी सभी देशों की भाषा है। फिर भी इतना तो है ही कि विश्व में व्यापारिक भाषा के रूप में किसी अन्य भाषा की तुलना में अंग्रेजी का व्यवहार अधिक होता है। कम से कम भारत के संबंध में तो यह बात सच है ही।

अंग्रेजी के कारण जहां अनेक देशों से व्यापार में आसानी हुई है, वहीं कुछ देशों की भाषाएं न जानने के कारण उन देशों से अपना व्यापार बढ़ाने में असुविधा भी हुई है। कई क्षेत्रों में अनुकूल स्थिति होते हुए भी हम अपना व्यापार नहीं बढ़ा सके। आज भारत के सॉफ्टवेयर इंजीनियर यदि अमरीका में अधिक हैं तो उसका एक कारण यह भी है कि अमरीका की भाषा अर्थात् अंग्रेजी हमारे देश में कंप्यूटर के अध्ययन की भाषा है। यूरोप के अनेक देशों में हमारे सॉफ्टवेयर इंजीनियरों की मांग है, किंतु उन देशों की भाषाएं न जानने के कारण हमारे इंजीनियर वहां नहीं पहुंच पा रहे हैं। उदाहरण के लिए फ्रांस में फ्रेंच भाषा की जानकारी चाहिए और इसी कारण जब पिछले वर्ष फ्रांस और जर्मनी जैसे देशों में सॉफ्टवेयर इंजीनियरों की मांग बढ़ी तो कुछ प्रशिक्षण संस्थाओं ने फ्रेंच भाषा सिखाने के लिए कार्यक्रम प्रारंभ किये, हालांकि अपेक्षित सफलता नहीं मिली, किंतु यह बात इस तथ्य को तो रेखांकित करती ही है कि विश्व से जुड़ने के लिए केवल अंग्रेजी का ज्ञान पर्याप्त नहीं है।

निर्माण की प्रक्रिया में भाषा का महत्व

आज संचार साधनों की बदौलत देशों और स्थानों के बीच की दूरियां अर्थात् भौगोलिक दूरियां बेमानी हो गयी हैं। वे एक तरह से मिट गयी हैं। संपूर्ण विश्व एक गांव बन गया है, जिसमें कभी भी, कहीं से भी, किसी से भी तत्काल संपर्क स्थापित हो सकता है, यदि आपके पास उसके लिए अपेक्षित साधन हों। इसी कारण व्यापार जगत में वैश्वीकरण (ग्लोबलाइजेशन) एक आम प्रचलित संकल्पना बन गया है। वैश्वीकरण मात्र एक शब्द नहीं है। यह एक विराट संकल्पना है, एक कंसेप्ट (संकल्पना) है। इस संकल्पना को

समझना होगा। मोटे तौर पर यह संपूर्ण विश्व के व्यापारिक रूप से जुड़ने की संकल्पना है। किसी भी देश में तैयार माल या सेवा को किसी भी देश में बेचने या प्रदान करने की प्रवृत्ति और सुविधा का नाम है वैश्वीकरण। इस वैश्वीकरण में सम्मिलित होने के लिए आवश्यक है कि आपके पास तैयार माल हो या खरीदने के लिए धन हो और इस खरीद और बिक्री के लिए संपर्क तथा लेनदेन के माध्यम के रूप में उपयुक्त और पर्याप्त साधन भी हों। सेवाओं के संदर्भ में कहें तो निपुणता और कौशल हो।

विश्व की बाज़ार व्यवस्था के मोटे तौर पर तीन चरण हैं

1. निमार्ण 2. थोक बिक्री 3. खुदरा बिक्री।

निमार्ण प्रक्रिया में मुख्यत: तीन बातें सम्मिलित हैं -

1. कच्चे माल की प्राप्ति, 2. उपयुक्त प्रौद्योगिकी और मशीनरी की प्राप्ति और उपयोग 3. सेवाएं

इन तीनों बातों में भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण है। यह आवश्यक नहीं कि कच्चा माल स्थानीय रूप से उपलब्ध हो। उसे विदेश से भी खरीदना पड़ता है। इस खरीद के लिए उपयुक्त संचार साधन अपनाने पड़ते हैं। इन साधनों में और संप्रेषण के लिए आवश्यकतानुसार भाषा अपनानी पड़ती है। संप्रेषण में तो मातृभाषा ही सबसे अधिक सहायक होती है। घर हो या कार्यालय, मातृभाषा का महत्व कम नहीं होता। कई बार तो 'आब-आब कहि मरि गये ढिंगै धरो रहो पानी' की कहावत चरितार्थ हो जाती है। फारसी की तरह अंग्रेजी में न तो हम अपनी बात सभी को समझा पाते हैं और न ही अन्य संबंधित लोग उसे ग्रहण कर पाते हैं। अंग्रेजी हमारे दिलों की भाषा नहीं है, इसलिए अंग्रेजी के शब्द दिल तक नहीं उतरते और इस कारण संप्रेषण का कार्य अधूरा रह जाता है। यह संप्रेषण चाहे माल तैयार करने वालों के साथ हो या उसकी बिक्री से जुड़े लोगों के साथ, दोनों ही स्थितियों में काम आधा-अधूरा होता है।

यह सच है कि माल तैयार करने और खरीदने दोनों के लिए धन आवश्यक है। कहते हैं कि पैसा पैसे को खींचता है। यह सार्वकालिक और सार्वभौमिक सत्य है। जिसके पास धन है वह और अधिक धन कमाने में समर्थ है, सक्षम है। इसीलिए जो निर्धन है, वह निर्धन होता जाता है। लेकिन केवल धन ही सब कुछ नहीं है। माल खरीदने के लिए धन अनिवार्य भले ही है, किंतु माल

तैयार करने में यह तभी सार्थक है, जब माल तैयार करने की प्रतिभा और प्रवृत्ति हो। उपयुक्त कौशल और प्रौद्योगिकी हो। संक्षेप में कहें तो कच्चे माल से अपेक्षित माल तैयार करने के लिए भी तीन चीजें अत्यावश्यक हैं-

1. कच्चे माल को तैयार माल में बदलने के लिए अपेक्षित ज्ञान, प्रतिभा और प्रौद्योगिकी, 2. इस कार्य के लिए आवश्यक धन, 3. यह सब करने की प्रवृत्ति अर्थात् करने की इच्छा।

कच्चे माल के अभाव में धन होने पर दूसरे देशों से कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता है, किंतु प्रतिभा और विवेक को धन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। हां, ज्ञान की प्राप्ति में धन कुछ हद तक काम आ सकता है। किंतु कुछ करने और बनाने के लिए जिस इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है, वह धन से नहीं मिल सकती। वह अपने संस्कारों से मिलती है। और संस्कार कोई पुस्तकों से प्राप्त होने वाली चीज नहीं है। ये घर-परिवार और परिवेश से बनते हैं, जिनमें अन्य बातों के साथ-साथ मातृभाषा की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हम भारतीय अपनी मातृभाषाओं की उपेक्षा करके अपने संस्कारों को ही क्षीण कर रहे हैं।

क्रय-विक्रय में हिन्दी का स्थान

बिक्री के प्रश्न पर प्राय: माल तैयार होने से पहले विचार करना पड़ता है। तैयार होने के बाद माल भेजने और भुगतान प्राप्त करने की बात आती है। इन कार्यों में आधुनिक संचार साधन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विदेश व्यापार में कुछ चीजों की बिक्री थोक में होती है तो अनेक चीजें ऐसी हैं, जिनकी एक इकाई का मूल्य ही बहुत अधिक होता है, जैसे हवाई जहाज, जलयान और रक्षा उपकरण आदि। इस कारण इनका निमार्ण आदेश के अनुसार होता है, दैनिक उपभोग की वस्तुएं स्थानीय रूप से भी उपलब्ध हैं और विदेश से भी खरीदी जाती हैं। उनकी खुदरा बिक्री का तंत्र होता है। यह खुदरा बिक्री का क्षेत्र ही है, जिसमें स्थानीय भाषाएं अधिक प्रयोग में आती हैं। उपभोक्ता वस्तुओं की बिक्री और उनके प्रचार के लिए अपनाये जाने वाले साधनों में भी स्थानीय भाषा का प्रयोग होता है। भारत में इस कार्य के लिए अधिकतर हिन्दी का प्रयोग हो रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियां भी अपना माल बेचने के लिए हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएं अपना रही हैं। वे अपनी उपभोक्ता वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुंचाने के लिए हिन्दी आदि भाषाओं

का प्रयोग करती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि निर्माण से लेकर खुदरा बिक्री तक के विभिन्न चरणों में अपनी भाषा अर्थात् हिन्दी का प्रयोग केवल खुदरा बिक्री तक सीमित रह गया है। लेकिन विश्व बाज़ार में स्थिति इससे भिन्न है। भारतीय माल की विदेशों में बिक्री का काम हो या विदेश में बनी उच्च लागत वाली वस्तुओं की भारत के लिए खरीदारी का प्रश्न हो, हिन्दी का इस्तेमाल प्रायः नहीं के बराबर है। अभी ऐसा नहीं है कि विमान, जलयान, रक्षा उपकरणों आदि की खरीद अथवा भारत में बने रेल के इंजिनों, ट्रांस्फार्मरों की बिक्री या इनसे जुड़ी परियोजनाओं में, यहां तक कि जूट, गर्म मसालों, चाय और कॉफी की विदेशों में बिक्री संबंधी कार्यों में हिन्दी का प्रयोग शायद ही कहीं हो रहा हो। वास्तविकता यह है कि हिन्दी अभी निर्माण और बिक्री की संपूर्ण प्रक्रिया में इस्तेमाल नहीं हो रही है।

दूसरी स्थिति है माल की खरीदारी की। जो बातें माल तैयार करने के लिए आवश्यक हैं, वे किसी हद तक खरीदारी पर भी लागू होती हैं, किंतु खरीदारी के लिए धन सबसे पहली आवश्यकता है, साथ ही धन के उपयोग की कला भी आनी चाहिए अर्थात् इतना विवेक तो होना ही चाहिए कि धन का उपयोग कैसे किया जाये। इस संदर्भ में एक लोककथा याद आती है।

एक अनाड़ी व्यक्ति ने किसी चतुर व्यक्ति के साथ मिलकर खेती की। तय हुआ कि दोनों बराबर मात्रा में साधन लगायेंगे और तैयार फसल में आधा-आधा हिस्सा होगा। देखने में बड़ा ईमानदारी भरा सौदा लगता है। दोनों ने गन्ने की खेती की। डटकर मेहनत की और अच्छी फसल (ईख) तैयार हुई। लेकिन जब ईख काटने का काम शुरू होने वाला था तो चतुर व्यक्ति ने कहा, देख भाई, अब पहले यह तय कर लें कि किसको कौन-सा हिस्सा मिलेगा। पहले तू बता कि तू ऊपर का हिस्सा लेगा या नीचे का। जो ऊपर का हिस्सा लेगा, उसे काटने का मौका पहले मिलेगा। अनाड़ी ने सोचा कि जब पहले काटने का हक मिल ही रहा है तो उसका लाभ क्यों न लिया जाये और उसने कह दिया कि वह ऊपर का हिस्सा लेगा। चतुर व्यक्ति ने खुशी-खुशी उसे पहले काटने का मौका दिया। जब वह अनाड़ी व्यक्ति ईख के ऊपरी हिस्से को गाड़ी में भरकर ले गया तो पत्नी बहुत नाराज हुई और बोली, तुम्हें नीचे का हिस्सा

लेना था।

दूसरी बार उन दोनों ने गेहूँ की खेती की। फसल तैयार होने पर बंटवारे के समय अनाड़ी को अपनी पत्नी की बात याद आ गयी और झट से बोला, इस बार मैं नीचे का हिस्सा लूंगा। चतुर व्यक्ति तो यह चाहता ही था। जब वह गेहूँ की फसल का नीचे का हिस्सा लेकर घर पहुंचा तो अनाड़ी की पत्नी ने फिर अपना माथा पीट लिया।

तो यह है माल तैयार करने और उससे लाभ कमाने में बुद्धि और विवेक के प्रयोग का उदाहरण। स्पष्ट है कि व्यापार और कारोबार में बुद्धि और विवेक का कोई विकल्प नहीं हो सकता।

अब देखना चाहिए कि माल के निर्माण और उसके विक्रय के लिए जिन बातों का उल्लेख किया जा रहा है, उन सभी संदर्भों में भाषा की क्या भूमिका है? क्या भाषा से धन अर्जित हो सकता है? क्या भाषा से ज्ञान बढ़ सकता है? क्या व्यापारिक साधनों को प्राप्त करने और उनके उपयोग में भाषा कोई महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है? ये और ऐसे तमाम प्रश्न आज प्रासंगिक हो गये हैं।

मौलिक अनुसंधान का आधार मौलिक चिंतन

आज की अर्थव्यवस्था ज्ञान पर आधारित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा ज्ञानार्जन में सहायक होती है। आज मानव का अपार ज्ञान भंडार भाषा के कारण ही संभव है। कारोबार और व्यापार के लिए भी भाषा का माध्यम अनिवार्य है। हमने विश्व बाज़ार में प्रवेश तो कर लिया। लेकिन किस रूप में? क्या हम विक्रेता हैं? अवश्य हैं। हमारे पास बहुत कुछ है, जिसकी विश्व के दूसरे देशों को आवश्यकता है, किंतु प्रतिस्पर्धा के कारण हम अपनी शर्तों पर अपना माल नहीं बेच पाते। बेचने के लिए खरीदार की भाषा बोलना भी हमारी विवशता है। और जब खरीदने जाते हैं तो भी हम बेचने वाले की शर्तों को मान लेते हैं। लेकिन क्यों? शायद इसलिए कि उस चीज के खरीदार बहुत हैं। यहीं माल की गुणवत्ता का प्रश्न पैदा होता है। शायद हमारा माल अद्वितीय श्रेणी का नहीं है। खरीदते समय भी बेचनेवाले की शर्त को मानने का कारण यही है कि उसका माल अद्वितीय श्रेणी का है।

स्पष्ट है कि माल की श्रेष्ठता ही विक्रेता या क्रेता की शर्तें निर्धारित करती

है। शायद यही कारण है कि विश्व व्यापार में हमारी बात कम चल पाती है। अत: अपने माल की गुणवत्ता सुधारना पहली आवश्यकता है। आप पूछ सकते हैं कि माल की गुणवत्ता को सुधारने का भाषा से क्या संबंध है? लेकिन है, और बहुत घनिष्ठ संबंध है। अच्छे माल के निर्माण के लिए जो अनुसंधान और ज्ञान चाहिए, उसकी प्राप्ति में भाषा सहायक होती है। अभी तक हम विदेशों से उधार की टेक्नोलॉजी से काम चलाते आ रहे हैं। कोई भी देश वही टेक्नोला. ॅजी दूसरों को देता है, जो उसके काम की नहीं रहती या उसकी ज़रूरत उसे कम रह जाती है, क्योंकि वह उससे आगे की प्रौद्योगिकी अपना चुका होता है।

यह सोचने की बात है कि हमारे देश में उद्योग अपना अनुसंधान और विकास क्यों नहीं कर रहे हैं? अनुसंधान और विकास पर इतना कम ध्यान क्यों दिया जा रहा है? एक ओर तो हम कहते हैं कि हमारे युवक प्रतिभाशाली हैं और दूसरी ओर हम उनकी प्रतिभा का उपयोग करने से कतराते हैं। अभी उनकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है तो स्वाभाविक है कि अंग्रेजी में काम करना ही उन्हें पसंद होगा। उन्हें और उनके अभिभावकों को लगता है कि अंग्रेजी ही ज्ञान-विज्ञान की भाषा है। अंग्रेजी ही विश्व बाज़ार में भारत के लिए सहायक हो रही है। इसके कारण की चर्चा हम अभी-अभी कर चुके हैं।

जब हम विश्व की मंडी में आते हैं तो देखते हैं कि विश्व के अनेक देश वहां विद्यमान हैं। उनकी अपनी-अपनी भाषाएं हैं। लेकिन आज जिस वैश्वीकरण की बात कर रहे हैं उसमें प्रयुक्त भाषाओं के संदर्भ में अपनी भाषा पर विचार करना उचित होगा। हमें यह भी देखना होगा कि क्या अंग्रेजी के प्रयोग ने हमारे अनुसंधान के स्तर को प्रभावित किया है? उच्च शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में अंग्रेजी का बोलबाला देखकर आम आदमी भी यह चाहने लगा है कि वह अपने बच्चों को प्रारंभ से ही अंग्रेजी सिखाये। तमाम मनोवैज्ञानिकों के इस विचार से हम सहमत तो हैं कि बच्चों की शिक्षा का सर्वोत्तम माध्यम मातृभाषा ही है, लेकिन व्यवहार में मातृभाषा का माध्यम अपनाने से कतराते हैं। इससे बचपन, फिर किशोरावस्था और फिर युवावस्था में मौलिक चिंतन प्रभावित होता रहता है। बचपन से ही कल्पनाशीलता क्षीण होती चली जाती है। कल्पनाशीलता के अभाव में जो तैयार है, उसे ही ग्रहण करने की प्रवृत्ति बनती चली जाती है। चाहे वह विज्ञान और प्रौद्योगिकी का क्षेत्र हो, या अर्थशास्त्र और विश्व व्यापार का, हम तैयार माल को ही लेने के आदी हो गये हैं। विश्व के

दूसरे निर्माता हमारी इस मनोवृत्ति को समझकर उसका दोहन करने में नहीं चूकते। कंप्यूटर और संचार प्रौद्योगिकी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

मौलिकता के अभाव में हमारा अनुसंधान और निर्माण का स्तर प्रभावित हुआ है। अंग्रेजी के मोह में हम इस तथ्य को न मानें यह दूसरी बात है। इस संदर्भ में स्वीडन के अर्थशास्त्री श्री मार्क फेबर की एक बात याद आती है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध न्यूज लेटर 'ग्लूम, डूम एंड बूम रिपोर्ट' में कहा है कि वैश्वीकरण की वर्तमान व्यवस्था का झुकाव धनी देशों की ओर है। वे अपने लाभ को देखते हुए व्यापारिक समझौते करते हैं, जिनसे विकासशील देशों के उभरते बाज़ारों को हानियां उठानी पड़ती हैं। पेटेंट का उदाहरण इस तरह के अन्याय का एक उदाहरण है। विश्व बाज़ार के ऐसे माहौल में हिन्दी को कितना स्थान मिल रहा है और मिल सकेगा, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। स्थिति तो यह है कि आज हिन्दी में ऐसा कोई स्तरीय और लोकप्रिय दैनिक नहीं है, जो विश्व बाज़ार के समाचार ग्राहकों तक पहुंचता हो। हिन्दी माध्यम से अनुसंधान न होने के कारण किसी विषय के स्तरीय जरनल की बात भी नहीं सोची जा सकती। अगर कहीं कोई चीज प्रकाशित भी होती है तो वह अनुवाद पर आधारित होती है और उसके पाठकों की संख्या भी बहुत कम होती है।

सच तो यह है कि जिस भाषा में मौलिक अनुसंधान न हो, मौलिक अनुसंधान पत्र न लिखे जाते हों, वह भाषा केवल खुदरा व्यापार की भाषा ही बन सकती है, संपूर्ण बाज़ार की भाषा बनने की संभावना नहीं हो सकती।

वैश्वीकरण की भाषा क्या है?

विश्व बाज़ार किसी एक स्थान पर नहीं है और आधुनिक युग में भौगोलिक अर्थ में स्थान का महत्व भी कम होता जा रहा है। उत्पादक और उपभोक्ता अथवा विक्रेता और क्रेता किसी स्थान पर मिलकर सौदा तय करें, यह ज़रूरी नहीं रहा है। वे एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में बिचौलिया महत्वपूर्ण हो जाता है और तब मांग और आपूर्ति की स्थिति के अनुसार बिचौलिये की भाषा को महत्व मिलता है।

उत्पादक और उपभोक्ता का संबंध और भाषा की भूमिका

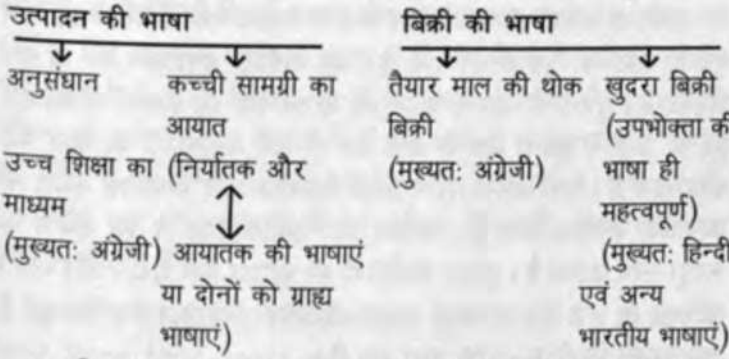

हम जिन विज्ञापनों को देखकर यह समझ लेते हैं कि बिक्री के लिए हिन्दी का प्रयोग हो रहा है और हिन्दी बाज़ार की भाषा बन रही है या बन गयी है, वह वास्तव में खुदरा बिक्री तक ही सीमित है। हिन्दी अभी न तो अनुसंधान की भाषा बन पायी है और न ही माल की थोक बिक्री में उसका प्रयोग हो रहा है। यहां भी मांग और आपूर्ति का संबंध लागू होता है। यदि मांग अधिक है तो उत्पादक की भाषा महत्वपूर्ण हो जाती है और खरीदार को उत्पादक की भाषा अपनानी पड़ती है और यदि आपूर्ति अधिक हो और खरीदार कम हों तो उत्पादक को अपना माल बेचने के लिए उपभोक्ता की भाषा का सहारा लेना पड़ता है।

क्या उदारीकरण और वैश्वीकरण का परिणाम यह है कि भारत एक बड़ा उपभोक्ता बाज़ार ही बनकर रह जाये अथवा बदले हुए परिदृश्य में भारत का माल भी विदेशों में भारी मात्रा में बिकेगा और विश्व व्यापार में उसका हिस्सा लगातार बढ़ता जायेगा। विश्व व्यापार संगठन जैसे समझौतों के कारण आज अनुसंधान से प्राप्त जानकारी के पेटेंट का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। अभी तक पेटेंट की भाषा हिन्दी नहीं बन पायी है।

वैश्वीकरण के साधनों में हिन्दी

वैश्वीकरण के क्षेत्र में माल के निर्माण और बिक्री में अलग-अलग चीजों के लिए अलग-अलग साधनों का इस्तेमाल होता है, किंतु संचार और संप्रेषण के आधुनिक साधनों का इस्तेमाल सभी क्षेत्रों में होता है। इन साधनों में उपग्रह द्वारा संदेश-प्रेषण और ग्रहण तथा कंप्यूटर नेटवर्क सर्वाधिक प्रचलित साधन

हैं। वास्तव में यह युग सूचना-क्रांति का युग है।

आर्थर सीं क्लार्क की एक विज्ञान कथा में दिखाया गया संचार उपग्रह आज सूचना क्रांति का वाहक बन गया है। यह अंतरिक्ष अनुसंधान का भी बाइ प्रोडक्ट है। सूचना के आदान-प्रदान की जो तकनीकें इस शताब्दी में विकसित हुई हैं, उन्होंने सूचना क्षेत्र के अभी तक के सारे आविष्कारों को बहुत पीछे छोड़ दिया है। इन आविष्कारों ने हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। आर्थिक और उद्योग जगत ने इस सूचना का भरपूर लाभ उठाया है। सूचना प्रौद्योगिकी की बदौलत बैंक, उद्योग और बाज़ार एकीकृत हो सके हैं। यह संपूर्ण सूचना प्रौद्योगिकी विदेशों में विकसित हुई है, अत: उसमें हिन्दी का प्रयोग बहुत कम है।

विश्व बाज़ार में लेन-देन की प्रक्रिया में बैंक भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कहा जाता है कि बैंकों में हिन्दी में बहुत काम हो रहा है। मैं भी इससे सहमत हूं, किंतु जिस विश्व बाज़ार की बात हम कर रहे हैं, उसमें, लेन-देन की प्रक्रिया में, बैंकिंग की अंतर्राष्ट्रीय प्रथाओं और अंतर्राष्ट्रीय कानूनों में हिन्दी का क्या स्थान है, यह भी देखना होगा। अनेक बैंक आवास ऋण, पारस्परिक निधि, क्रेडिट कार्ड/स्मार्ट कार्ड कारोबार, कैपिटल मार्केट, निर्गम प्रबंधन आदि कार्यों के लिए अपनी अनुषंगी कंपनी/एजेंसी चला रहे हैं। अब बीमा संबंधी नया कार्य भी जुड़ने जा रहा है। मुद्रा बाज़ार, प्रतिभूति बाज़ार, वित्तीय सेवाओं, उद्यम पूंजी आदि के कार्यों में बैंकों की भूमिका बढ़ रही है। इस तरह परिसर बैंकिंग के साथ-साथ बाज़ार बैंकिंग भी तेजी से पनप रहा है। इस बाज़ार बैंकिंग में अभी अपने देश में ही मुख्यत: अंग्रेजी का प्रयोग हो रहा है, ऐसे में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अर्थात् विश्व बाज़ार में हिन्दी का प्रयोग कैसे बढ़ेगा, यह विचारणीय है।

आज लोगों को जो बैंकिग सुविधाएं प्रदान की जा रही हैं, वे किसी चमत्कार से कम नहीं हैं। कहना न होगा कि इन सेवाओं के लिए कंप्यूटर नेटवर्क अनिवार्य हो गया है। चाहे बैंकों का अपना नेटवर्क हो या इंटरनेट। ऑनलाइन बैंकिंग अब अपने देश में भी हो रही है। हालांकि अभी यह अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही है, फिर भी इसका विस्तार बहुत तेजी से हो रहा है। इसमें एक और आयाम बेतार बैंकिंग का भी जुड़ गया है। सूचना और संचार

की इस प्रौद्योगिकी में हिन्दी कहां है? तकनीकी दृष्टि से हिन्दी में वे सभी कार्य संभव हैं जो प्रौद्योगिकी के नये साधन और कंप्यूटर कर सकते हैं। लेकिन इस कार्य के लिए आवश्यक प्रवृत्ति के अभाव में ये कार्य हिन्दी में नहीं हो रहे हैं। बैंक शाखाओं में डाटा प्रोसेसिंग को ही लें, उसकी शुरूआत तो हो चुकी है, लेकिन वह अभी प्रारंभिक अवस्था में ही है। अभी तो केवल स्थानीय ग्राहकों की दृष्टि से ही हिन्दी में डाटा प्रोसेसिंग कुछ शाखाओं में शुरू हुई है, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार में बैंक जो भूमिका निभाते हैं, उसमें हिन्दी का स्थान नगण्य ही है।

हाल ही में संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू. एन. डी. पी.) की ओर से 'मानव विकास रिपोर्ट-2001' जारी की गयी है। यह रिपोर्ट प्रौद्योगिकी (अर्थात् जैव तकनीक और सूचना तकनीक) को समर्पित है। इन दोनों तकनीकों के अध्ययन और अनुसंधान की भाषा अभी हिन्दी नहीं बन पायी है। इसके अतिरिक्त 'ग्लोबल कंपैक्ट' नामक एक और संगठन भी हाल ही में गठित हुआ है। यह निश्चित रूप से माना जा रहा है कि ग्लोबल कंपैक्ट का 'ग्लोबल इम्पैक्ट' बहुत ज़बरदस्त होगा, क्योंकि इसमें विश्व की 50 बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां शामिल हैं और इन कंपनियों की भाषा भी हिन्दी नहीं है और न ही निकट भविष्य में होने की संभावना है।

विश्व व्यापार के कानून और हिन्दी

कानून के क्षेत्र में तो हिन्दी की स्थिति और भी खराब है। अभी तक उच्च न्यायालयों में भी हिन्दी का प्रयोग कहीं-कहीं ही हो रहा है। सर्वोच्च न्यायालय की भाषा तो संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार अंग्रेजी ही है। जो कानूनी पुस्तकें, नियम, अधिनियम आदि हिन्दी में हैं भी, उनका उपयोग नहीं हो पा रहा है और न ही अधिनियमों आदि की हिन्दी भाषा लोगों की समझ में आती है। अटपटे और क्लिष्ट वाक्यों से परिपूर्ण कानूनी पुस्तकों की हिन्दी बहुत-से हिन्दी प्रेमियों के मन में भी अरुचि पैदा करती है। विश्व व्यापार, आयात-निर्यात के क्षेत्रों में दस्तावेजों आदि के लिए प्रयुक्त मानक फार्म आदि मात्र दिखावा बनकर रह गये हैं, उनका उपयोग बहुत ही कम हो रहा है। ऐसे में विश्व बाज़ार से जुड़े कानूनी दांव-पेंचों, विश्व व्यापार संगठन के समझौतों, उनसे संबद्ध दस्तावेजों और उस समस्त प्रक्रिया में हिन्दी के प्रयोग की कल्पना ही कठिन है। स्वाभाविक है कि अपने देश में ये दस्तावेज आदि अंग्रेजी में ही

प्रयुक्त होते हैं।

कुछ सुझाव

इस समस्त विश्लेषण का सार यह है कि विश्व बाज़ार की जो चीजें भारत में आ रही हैं, उनकी खुदरा बिक्री में तो हिन्दी का इस्तेमाल हो रहा है, किंतु हिन्दी इस देश में तैयार वस्तुओं की विदेशों में बिक्री की भाषा नहीं है और न ही उच्च लागत की वस्तुओं की देश में बिक्री की भाषा है। इस तथ्य को जान लेने के बाद यह प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर किया क्या जाये? हिन्दी को सच्चे अर्थों में विश्व बाज़ार की भाषा कैसे बनाया जाये? हम इसके कारणों को भी जानते हैं, अत: यदि दृढ़ इच्छाशक्ति हो तो यह काम असंभव नहीं है। इसके लिए पहली आवश्यकता है, अपनी भाषा से प्रेम और उसके प्रति आदर का भाव। यदि अपनी मां को आदर नहीं देंगे तो कोई दूसरा भी क्यों देगा। यही बात भाषा के साथ लागू होती है। अत: हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग अत्यावश्यक है।

हिन्दी के विद्वानों से प्रार्थना है कि वे कहानी, कविता आदि के साथ किसी अन्य विषय का भी अध्ययन करें और उस विषय से संबंधित साहित्य (लेख, पुस्तक आदि) हिन्दी में लिखें। इससे अन्य विषयों में लिखी गयी पुस्तकों का स्तर सुधरेगा तथा अन्य लोग भी उसे पढ़ने के लिए प्रेरित होंगे। हिन्दी विश्वविद्यालय जैसे उच्च शिक्षा संस्थानों में हिन्दी से इतर विषयों, विशेषकर कानून, विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर अनुसंधान हिन्दी माध्यम से हों। सर्वोच्च न्यायालय सहित उच्च न्यायालयों में हिन्दी के प्रयोग की पूरी छूट हों। हिन्दी को विविध विषयों के मूल लेखन की भाषा बनाया जाये। ये कार्य सहज नहीं हैं। इनमें श्रम और प्रतिभा दोनों की आवश्यकता है, अत: प्रतिभा पलायन को रोका जाये। आज तो स्थिति यह है कि हम विदेशों में अपने देश की प्रतिभाओं द्वारा किये गये कार्य को प्राप्त करने के लिए भारी धन राशि खर्च कर रहे हैं। यह केवल प्रतिभा पलायन ही नहीं है, धन का पलायन भी है, फिर भी हम अपने यहां अनुसंधान कार्य नहीं चला रहे हैं। हमें ब्रेन ड्रेन को रोककर अपने देश की प्रतिभा का उपयोग देश के विकास कार्यों के लिए करना होगा।

इन कार्यों के संपन्न होने से हमें विश्वास है, हिन्दी व्यापक रूप से विश्व बाज़ार की भाषा बन सकेगी और निश्चित ही बनेगी।

विदेशों में हिन्दी: वैश्वीकरण का परिप्रेक्ष्य

विमलेश कांति वर्मा*

दो वर्ष पहले नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय के तत्वाधान में 'भारतीय गणतंत्र में हिन्दी: दशा और दिशा' पर दो दिन की गोष्ठी हुई थी। उस गोष्ठी में मैंने हिन्दी का भूमंडलीकरण विषय पर अपना आलेख पढ़ा था और विश्व में हिन्दी की क्या स्थिति है इसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की थी। आलेख के मूल बिंदु थे- विदेश में हिन्दी अध्ययन-अध्यापन की परंपरा, विदेश में हिन्दी पत्रकारिता, हिन्दी की विदेशी भाषिक शैलियाँ, विदेश में हिन्दी साहित्य सृजन, हिन्दी साहित्य का विदेशी भाषाओं में अनुवाद आदि। उपयुक्त गोष्ठी में उपस्थित श्रोताओं में से किसी ने विश्व में लुप्त होती हुई भाषाओं का संदर्भ देते हुए यह सुझाव दिया था कि हिन्दी की दशा और दिशा के साथ इस विषय पर भी चर्चा होनी चाहिए कि क्या हिन्दी पर भी ऐसे किसी गहराते संकट की संभावना है कि हिन्दी का अस्तित्व ही मिट जाए। संभवत: यही कारण था कि इसे सामायिक चर्चा का महत्वपूर्ण विषय समझा गया और इस गोष्ठी का आयोजन हुआ।

वस्तुत: युनेस्को ने 1996 में स्टीफ़ेन वर्म[1], द्वारा संपादित विश्व की भाषाओं का एक एटलस प्रकाशित किया था जिसमें उन्होंने विश्व की अनेक भाषाओं के ऊपर मंडराते अस्तित्व के संकट की बात कहीं थी और यह संभावना व्यक्त की थी कि इनमें से अनेक भाषाएं कालातंर में लुप्त हो जाएँगी। यह बात वर्म ने उन भाषाओं के लिए कही थी जिनके बोलने वालों की संख्या दिनों-दिन कम होती जा रही है और ज्यों-ज्यों भाषा के बोलने वाले कम होते जाएँगे उनकी भाषा स्वयं धीरे-धीरे लुप्त हो जाएगी क्योंकि भाषा की

[1] वर्म, एस. ए : एटलस ऑफ द वर्ल्डस लैंग्वएजेस इन डेंजर ऑफ डिसपियरिंग, 1996, पृष्ठ 60

*भाषा वैज्ञानिक, प्राध्यापक, पी.जी.डी.ए.वी. कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

संजीवनी और ऊर्जा उसकी व्यावहारिक उपयोगिता है। भाषा की नियति उसके बोलने वालों से जुड़ी होती है। हिन्दी के साथ आज अस्तित्व का कोई संकट नहीं है क्योंकि भारत में वह करोड़ों की मातृभाषा तथा विश्व में करोड़ों की अनुराग भाषा है। विश्व के अनेक देशों में हिन्दी का प्रचलन है तथा वहां के प्रवासी भारतीय उसकी सुरक्षा तथा प्रतिष्ठा के लिए सजग व सचेष्ट हैं।

विश्व की भाषाओं के सर्वेक्षण[2] यह बताते हैं कि प्रधान यूरोपीय भाषाओं- अंग्रेज़ी जर्मन, फ्रांसीसी, पुर्तगाली तथा स्पेनिश में अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रांसीसी भाषाओं के बोलने वालों के प्रतिशत में इधर पिछले तीन दशकों में निरन्तर गिरावट आई है जबकि पुर्तगाली तथा स्पेनिश बोलने वालों के प्रतिशत में बृद्धि हुई है। इसी प्रकार विश्व की प्रधान भाषाओं में अंग्रेजी, मेंडटिन तथा रूसी भाषा के बोलने वालों के प्रतिशत में गिरावट देखी गई जबकि अरबी तथा हिन्दी बोलने वालों का प्रतिशत बढ़ा है। यद्यपि ये आंकड़े इन अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं के महत्व को कम नहीं करते पर स्पेनिश, पुर्तगाली, अरबी तथा हिन्दी के बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के साक्ष्य अवश्य हैं। अरबी तथा हिन्दी के बढ़ते हुए विश्व प्रतिशत का कारण अरबी तथा हिन्दी भाषा की व्यावसायिक तथा व्यावहारिक उपयोगिता है। भारत में हर प्रांत की अपनी-अपनी भाषा है किंतु पूरे राष्ट्र की संवाद भाषा हिन्दी ही है। यह सही है कि आज भी अंग्रेजी भारत में प्रतिष्ठित वर्ग के मध्य देश की संपर्क भाषा है किंतु जन वर्ग तक पहुँचने के लिए या व्यापक उपभोक्ता जगत तक पहुँचने के लिए हिन्दी के अतिरिक्त कोई और भाषा विकल्प नहीं है। हिन्दी न केवल संख्याबल वरन् भू-विस्तार की दृष्टि से भी विश्व की प्रधान भाषाओं में है तथा इसके बोलने वालों की संख्या विश्व में 70 करोड़ बताइ गई है तथा इसके बोलने वाले भारत के बाहर, नेपाल, पाकिस्तान, श्री लंका, बर्मा, फीजी, मारिशस, सूरिनाम तथा दक्षिण अफ्रीका में बसे लाखों प्रवासी भारतीय हैं जो इन देशों के स्थायी नागरिक हैं और मातृभाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग करते है।

हिन्दी विश्व भाषा बन सके, वह व्यापार तथा अर्थ जगत की भाषा बन सके, सूचना क्रांति में वह अन्य महत्वपूर्ण विश्वभाषाओं के समकक्ष खड़ी हो सके, इसके लिए हिन्दी को अधिक सक्षम बनाना होगा। वैश्वीकरण के इस युग में जब देशों की भौगोलिक दूरियाँ सिमटती जा रही है, समय और गति का

[2] कलेवर्ट, सिडनी: वर्ल्ड अलमनाक एण्ड बुक ऑफ फैक्ट्स

महत्व बढ़ता जा रहा है, बाज़ार भाषा मूल्य तय करने का मापक बन गया है, हिन्दी के सामने कई चुनौतियाँ हैं। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए आवश्यक है कि हम वास्तविक स्थिति और अपनी कमियां समझें, हमें लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान हो, लक्ष्य प्राप्ति की सार्थक योजनाएँ बने, ईमानदारी तथा दृढ़ता से योजनाओं को कार्यान्वित किया जाए तथा समय-समय पर हमारी प्रगति का मूल्यांकन हो।

चढ़ते हुए सूरज और बढ़ते हुए चाँद की पूजा होती है। भारत जैसे-जैसे शक्तिशाली बनेगा, भारत की भाषा का भी सम्मान होगा और लोग उसकी ओर झुकेंगे। हिन्दी तभी विश्वभाषा का रूप ले सकेगी जब हिन्दी का ज्ञान भारत को समझने के लिए आवश्यक हो जाएगा, बिना हिन्दी ज्ञान के हम भारतीय साहित्य नही पढ़ सकेंगे, बिना हिन्दी के भारतीय उपभोक्ता बाज़ार में हमारी पहुँच नहीं हो सकेगी, बिना हिन्दी के हम भारतीय संस्कृति समाज, धर्म और दर्शन नहीं समझ सकेंगे और हिन्दी में वह सब उपलब्ध हो सकेगा जो हमारी आवश्यकता है। समग्रतः हिन्दी के बिना जब हमारा काम नहीं चलेगा। कौन बनेगा करोड़पति ने कितने ही अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखाई है। यदि आप सहज करोड़पति बनना चाहते हैं तो 'बच्चन सर' की क्लास में जाना ही होगा। मैंने किसी को यह कहते सुना कि यह कार्यक्रम हिन्दी में है मैं उसमें भाग नही लूंगा। यदि हमें फिल्मों से मंनोरंजन चाहिए तो हमें बंबई या हिन्दी फिल्में देखनी ही होंगी।

हिन्दी में यह शक्ति कब आएगी कि वह विश्व के लिए एक ऐसी महत्वपूर्ण भाषा बन जाए जिसकी उपेक्षा न हो सके। यह तभी होगा जब हमारी मानसिकता बदलेगी। हमें अपनी भाषा बोलते हुए गौरव का अनुभव होगा। हमारे राजनेता अटक-अटक कर अंग्रेजी बोलने के बदले अपनी मातृभाषा या राष्ट्रभाषा में प्रभावशाली ढंग से बोलने को अधिक महत्व देंगे। देश-विदेश में अपनी भाषा में बात कहकर विकसित देशों के राजनेताओं की तरह अपनी बात अपनी भाषा में कहना चाहेंगे। जापान, जर्मनी, इंगलैड, रूस, फ्रांस, चीन आदि सभी शक्तिशाली देशों के नेता अपनी भाषा में वक्तव्य देते हैं और अनुवादक के माध्यम से उनकी बात विदेशी श्रोताओं तक पहुँचती है। आज़ादी के बाद भारत की राजनीतिक सुस्थिरता, वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति, विश्व की परस्पर संघर्षशील शक्तियों के राजनीतिक, सामरिक प्रभावो से मुक्त उसकी

स्वतंत्र विदेश नीति, एशिया और हिंद महासागर के देशों मे उसकी भौगोलिक स्थिति जैसे अनेक कारण हैं जिनसे अंन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत का सम्मान ऊँचा हुआ है। लोकतांत्रिक व्यवस्थावाला यह सबसे बड़ा देश है। भारत की इस विश्व प्रतिष्ठा ने तथा विश्व में बसे हुए भारतीयों ने अपने श्रम और बुद्धिबल से अपनी प्रतिष्ठा बनाई है तथा अपनी राष्ट्रभाषा को अंन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया है।

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में जब हम विदेश में हिन्दी की बात करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य विदेश में हिन्दी भाषा के अधिक-से-अधिक प्रसार के साथ ही विविध क्षेत्रों में हिन्दी के प्रयोग से संबंधित है। इस प्रसार और प्रयोग में कई कठिनाईयाँ हैं जिनके समाधान की आवश्यकता है। मुझे इस संबंध में जातक की एक बौद्ध कथा का स्मरण आ रहा है। एक बुढ़िया एक लैंप पोस्ट के नीचे खड़ी ज़मीन पर पड़ते हुए प्रकाश में कुछ खोज रही थी। राह चलते लोगों ने देखा कि बहुत देर से बुढ़िया कुछ खोज रही है और परेशान है किंतु उसकी कोई मदद नहीं करता। एक नौजवान से नहीं रहा गया। उसने सोचा कि इस बुढ़िया की मदद की जाए, शायद उसकी बूढ़ी आँखे बारीक चीज़ न देख पा रही हों। उसने बुढ़िया से पूछा, "माई क्या खोज रही हो"? उसने कहा "बेटा, चाभी का गुच्छा खो गया है, उसे ही बड़ी देर से खोज रही हूँ।" नौजवान ने पूछा कि गुच्छा कहां गिरा था तो बुढ़िया ने जवाब दिया कि चाभी का गुच्छा घर में गिरा था। नौजवान ने आश्चर्य से कहा कि फिर तुम इस लैंप पोस्ट के नीचे क्यों खोज रही हो? बुढ़िया ने उत्तर दिया कि यहां प्रकाश है इसलिए मैं यहां खोज रही हूँ। यही स्थिति हमारी भी है। हिन्दी के विश्वव्यापी प्रसार और प्रयोग की कुछ कठिनाईयाँ हैं। हमें उनपर विचार करना होगा तथा उनका समाधान खोजना होगा जिससे इस दिशा में कुछ समाधान ढूंढे जा सकें।

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी की भूमिका सार्थक हो तथा उसकी प्रयोग व्याप्ति बढ़ सके इसके लिए पहली आवश्यकता हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के मानकीकरण की है। देवनागरी लिपि के मानकीकरण के प्रयत्न प्रशासकीय स्तर पर हुए। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने जो लिपि का मानकीकरण किया उसका प्रयोग निदेशालय के अलावा कहीं नहीं होता। यहाँ तक कि सरकारी प्रकाशनों में भी नहीं, निजी प्रकाशकों की बात तो छोड़ ही दीजिए। ऐसा क्यों हुआ इसका उत्तर मानकीकरण करने वालों के पास भी नहीं है। यही

स्थिति हिन्दी भाषा की भी है। हिन्दी देश की संविधान स्वीकृत राजभाषा है किंतु उसके मानकीकरण की बात प्रशासकीय स्तर पर कोई नहीं सोचता। कभी हम हिन्दी पत्रकारिता को दोष देते हैं कभी टेलीविजन या रेडियो की हिन्दी को किंतु जरा अपने मन को टटोल कर देखिए क्या उनको हमने कोई मानक रूप दिया है जिसका वे प्रयोग करें। एक छोटा सा उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करूँ। 'आज तक' हिन्दी का समाचार चैनल है जिसकी लोकप्रियता व साख एक वर्ष से कम समय में ही इतनी बन गई कि उसने अन्य सभी समाचार चैनलों को पीछे छोड़ दिया किंतु वे प्रयोग करते हैं आज की 'ताज़ा ख़बर'। मैं हिन्दी क्षेत्र का हूँ, हिन्दी मेरी मातृभाषा है, मैं ख़बर का प्रयोग स्त्रीलिंग में करता हूँ और इसके लिंग की व्याख्या में अच्छा ख़बर और बुरा ख़बर के समानक के रूप मे करता हूँ यदि ख़बर अच्छी या बुरी है तो ताज़ी भी होगी। इतना ही नहीं प्रयुक्ति देखिए आज की ताज़ा ख़बर। समानक देखिए आज का ताज़ा अखबार। ऐसे उदाहरण अनेक हैं जो भाषा के व्याकरणिक नियमों का उल्लंघन करते हैं पर चलते हैं और इनके बारे में न कभी कोई कहता है न कभी कोई लिखता है। विरोध करना तो हमारा स्वभाव ही नहीं है। सच पूछिए तो इसका कारण हमारी अज्ञानता, या फैशन नहीं है। इसका कारण है कि हमने भाषा के मानकीकरण की बात को कभी गंभीरता से लिया ही नहीं। यह मानकीकरण की चिंता आचार्य रामचंद्र वर्मा ने सन् 1940 में व्यक्त की थी और कहा था- हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा मानकर अपना अभिमान प्रगट करते है पर दुर्भाग्यवश हम अभी तक उसका ठीक-ठाक स्वरूप ही निश्चित नहीं कर पाए हैं। सब लोग अपने अपने ढंग से और मनचाहे तौर पर जो कुछ जी में आता है वह सब हिन्दी के नाम से लिखते चलते हैं। शुद्ध चलती हुई मुहावरेदार भाषा लिखने की आवश्यकता का अनुभव कुछ इने-गिने मान्य लेखकों को ही होता है और नहीं तो हिन्दी के क्षेत्र में भाषा के विचार से केवल धांधली ही मची हुई है। यह स्थिति जो सन् 1940 में थी वही आज भी बनी हुई है। अच्छी हिन्दी, शुद्ध हिन्दी, मानक हिन्दी जैसी चर्चा हिन्दी गोष्ठियों में कभी नहीं देखी सुनी जाती है। हिन्दी को हमने देश की राजभाषा बनाया है, शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रशासन में, न्याय और न्यायालय में हिन्दी का प्रयोग बढ़े, वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी जन-संचार तथा सूचना क्रांति के क्षेत्र में हिन्दी का प्रयोग बढ़े, हिन्दी विश्वभाषा बने, विदेश में हिन्दी

का अध्ययन-अध्यापन सार्थक दिशा में आगे बढ़े, यह क्या मानकीकरण के बिना संभव हो सकता है?

हमने हिन्दी को बचाए बनाए तो रखा किंतु हिन्दी को जीवंत बनाने की चेष्टा नहीं की। बोलचाल की सहज प्रवाहमयी हिन्दी को हमने संस्कृत शब्दों से लादकर इतना बोझिल बना दिया कि वह जनता से दूर चली गई। हिन्दी के शुद्धीकरण के प्रयास में हमने उर्दू का तिरस्कार किया जो जनता की भाषा थी। यह उर्दू वह उर्दू नहीं थी जो पाकिस्तान की उर्दू है जिस में हिन्दी के ही समान अरबी-फारसी के शब्दों को ठूसकर भरा गया था और जो सामान्य जनता को आज भी समझ नही आती। कबीर के शब्दो में कहा जाए तो, अरे इन दोऊन राह न पाई। हिन्दी प्रदेश की बोलचाल की भाषा वस्तुत: देवनागरी लिपि में हिन्दी और फारसी लिपि में उर्दू हो। अनुवादी हिन्दी ने इसे और भी अस्पष्ट, अबोध और असहज बना दिया।

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में विदेश में हिन्दी की दूसरी बड़ी चुनौती- हिन्दी भाषा का विदेशी भाषा के रूप में विधिवत शिक्षण-प्रशिक्षण है। यह खेद का विषय है कि स्वतंत्रता के 54 वर्ष बाद भी देश में हिन्दी का ऐसा कोई भी भाषा शिक्षण संस्थान नहीं है जिसमें विदेशियों के लिए हिन्दी भाषा के ऐसे विविध पाठ्यक्रम हों जिनको पूरा कर कोई भी विदेशी छात्र हिन्दी माध्यम से चलने वाले चिकित्सा, इंजीनियरी तथा अन्य विज्ञान के विषयों को पढ़ने समझने की अपेक्षित योग्यता प्राप्त कर सकें। ऐसे छोटे कैप्सूल कोर्स भी नहीं हैं जिन्हे पूरा कर एक विदेशी अल्प समय में भाषा पर इतना अधिकार प्राप्त कर सके कि वह भारत में यात्रा कर सके, अपने उपयोग की सामग्री खोज सके, हिन्दी समाचार पत्र पढ़कर भारत के समाचार जान सके। विदेश में हिन्दी विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है, वे हिन्दी की पाठ्य सामग्री भी तैयार कर रहे हैं, अपने छात्रों को हिन्दी का प्रारंभिक ज्ञान कराकर गहन प्रशिक्षण के लिए भारत भी भेजते हैं किंतु यहाँ आकर उन्हे निराशा ही हाथ लगती है। न ही भाषा शिक्षण की आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति में प्रशिक्षित प्राध्यापक, न उपयुक्त पाठ्य सामग्री, न ही उपयुक्त संदर्भ ग्रंथ और न ही उपयुक्त शिक्षण व्यवस्था। यह हिन्दी का विदेशी भाषा के रूप में शिक्षण तो आप समझिए राम भरोसे ही चल रहा है और इसी देश में चल सकता है। सच्चाई तो यह है कि विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी का शिक्षण राष्ट्रीय महत्व का है और विश्वभाषा हिन्दी

की यह मूल नीति है। इस पर राष्ट्रीय स्तर पर विचार होना चाहिए, देश विदेश में हिन्दी शिक्षण पर क्या राय हो रही है इसका सतत् पुनरीक्षण एवं मूल्यांकन होता रहे, विदेशी हिन्दी प्रशिक्षकों के पुनश्चर्या पाठ्यक्रम हो जिनमें उनकी समस्याओं पर विचार हो और योजनाबद्ध तरीके से अपेक्षित लक्ष्य के लिए विशिष्ट पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकें तैयार की जाए। जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड, चीन, जापान, रूस आदि देश किस प्रकार अपने भाषा पाठ्यक्रम को देश-विदेश में नियंत्रित और संचालित करते हैं यदि हम देखें तो वह हमारे लिए मार्ग दर्शक बन सकता है।

विश्व में हिन्दी का प्रसार हो, हिन्दी अध्ययन-अनुसंधान की दिशा में प्रगति हो, इसके लिए आवश्यक है कि हिन्दी के संदर्भ ग्रंथ तैयार किए जाएं। शोध के क्षेत्र में प्रगति हो इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की होती है कि हमें पता हो कि अब तक विषय पर कितना कार्य हो चुका है, सामग्री कहां-कहां बिखरी पड़ी है और वह कहां उपलब्ध हो सकती है। आज की दयनीय स्थिति तो यह है कि यदि कोई भाषा अनुसंधता यह जानना चाहे कि विश्व के विभिन्न देशों में विविध भाषाओं में हिन्दी भाषा पर क्या कार्य हुआ है तो आज हमारे पास ऐसी कोई सूची (bibliography) भी उपलब्ध नहीं है। जो है भी वह केवल अंग्रेजी भाषा में हुए कार्यों का ही विवरण देते हैं। क्या आप ऐसी बड़ी सूची (exhaustive bibliography) की आवश्यकता महसूस नही करते जिसमें हिन्दी भाषा पर विश्व भर में हुए कार्यों का पूर्ण विवरण हो, अनुसंधान के लिए यह कार्य उपयोगी ही नहीं पहली अनिवार्यता है। यह सूची तो इंटरनेट पर उपलब्ध होनी चाहिए जिससे इसका प्रयोग विश्व में कहीं भी बैठा व्यक्ति हिन्दी पर शोध कार्य करते हुए सहज ही उपयोग कर सके। विदेशी भाषाओं के कौन से हिन्दी कोश आज तक बने हैं यह जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नही है, हिन्दी के विश्व व्यापी प्रसार के लिए आवश्यक है कि योजनाबद्ध ढंग से हिन्दी के द्विभाषी कोश ग्रंथ तैयार हों, जिसमें भाषा विशेषज्ञों, भाषा वैज्ञानिकों, समाज शास्त्रियों तथा साहित्यकारों का सहयोग हो। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि आज भी कोई अच्छा बड़ा हिन्दी-अंग्रेजी द्विभाषी कोष हिन्दी में उपलब्ध नहीं है। एक कोश जो आर.एस. मेगरेयर ने चार वर्ष पहले आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित कराया था एकमात्र उल्लेखनीय प्रयास है क्या हम यह अनुभव नहीं करते कि जिस प्रकार आक्सफोर्ड, चैम्बर्स,

वेब्स्टर्स के कोश विभाग प्रकाशन संस्थान के स्थायी विभाग के रूप में निरंतर कोश निमति में लगे रहकर अपने कोशों को पूर्ण और उपयोगी बनाने में लगे रहते हैं, उसी प्रकार हिन्दी के कोश निमार्ण कार्य भी हो तभी वह विश्व परिप्रेक्ष्य में सार्थक उपलब्धि हो सकता है।

भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी के व्यापक प्रचार प्रसार के निमित अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की स्थापना की, यथासंभव अनुदान भी दिया गया किंतु जिस लक्ष्य को लेकर उसकी स्थापना की गई थी क्या वह अपनी लक्ष्य सिद्धि तक पहुँच सकी। विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी भाषा शिक्षण, हिन्दी की विदेशी भाषिक शैलियों का अध्ययन-विवेचन, हिन्दी के विदेशी भाषा द्विभाषी कोश निर्माण, सर्जनात्मक हिन्दी साहित्य का विदेशी भाषाओं में अनुवाद, विदेशी हिन्दी पत्रकारिता से मार्गदर्शन व प्रोत्साहन अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के दायित्व क्षेत्र में है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जब भी विश्वभाषा के रूप में हिन्दी या हिन्दी के वैश्वीकरण की बात सोचते हैं तो हमारी सोच केवल अंग्रेज़ी भाषा तक ही सीमित होती है और वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में सारा काम अंग्रेजी को केन्द्र बनाकर ही करते हैं।

भाषा के वैश्वीकरण का एक मुख्य घटक अनुवाद है। आज भारत में कोई ऐसा राष्ट्रीय संस्थान नहीं है जिसका प्रमुख दायित्व अनुवाद से जुड़ा हो। क्या भारत की भाषाओं की प्रमुख कृतियों का योजनाबद्ध तरीके से विदशी भाषाओं में अनुवाद होता है। किसी समकालीन हिन्दी लेखक कवि की कृति विदेशी भाषा में अनूदित होती है, इसका संबंध कृतिकार की कृति से नही उसके व्यक्तित्व से है, उसके संपर्क और उसके समझौतों से है। मैं पिछले बीस वर्षों से विदेश कृतियों का हिन्दी में और हिन्दी का विदेशी भाषाओं में अनुवाद करता हूँ, अंदर क्या स्थिति है, मैं जानता हूँ। अंग्रेज़ी भाषा में अनूदित हिन्दी कृतियों की सूची यदि आपकी निगाह में पड़ जाए तो बिना मेरे कहे ही आपको स्थिति स्पष्ट हो जाएगी, शायद इससे आप अपरिचित भी नहीं है। यह बात केवल ललित साहित्य के अनुवाद की ही नहीं ज्ञान-विज्ञान तथा शास्त्रों के अनुवाद की भी है। जो अनुवाद आपके सामने आने हैं, कुछ अपवादों को छोड़कर वे ऐसे अनुवाद हैं कि अनूदित कृति को बिना मूल के समझा ही नहीं जा सकता। जहाँ लिखित साहित्य के अनुवाद का वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में महत्व है वहीं तत्काल भाषा करण का भी इसकी स्थिति तो और भी दयनीय है। अवधेय है

कि भाषा ज्ञान प्राप्त करना अलग बात है और तत्मल भाषा चरण में निपुणता प्राप्त करना अलग बात।

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी के विश्वव्यापी प्रसार की बात तो हम करते है किंतु इस दिशा में ठोस प्रयास नही करते। हम कागज़ी योजनाएँ बनाते हैं किंतु उन्हे कार्यन्वित नहीं करते, कार्याचयन होता है तो उन्हे पूर्ण नहीं करते या कर नही पाते। हिन्दी दिवस पर भाषण होते हैं, सभाएं होती हैं जो उत्सव का रूप तो लेती हैं किंतु कार्य गोष्ठी का रूप नहीं ले पाती। यह संभव तभी होगा जब हमारी मानसिकता बदलेगी, हम अपनी हीनभावना से मुक्त होंगे। आवश्यक है हिन्दी के वैश्विक विकास के लिए एक ऐसी ठोस भूमि तैयार करना जिससे कि हिन्दी अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पहचानी जाए। इस दिश में विश्व स्तर पर कार्य हो रहा है, प्रगति दिख रही है किंतु संकल्प सिद्धि के लिए ध्यान और धारणा दोनों की आवश्यकता है।

विदेशों में हिन्दी

तेजी सकाता*

1. परिस्थिति: वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में विविध भाषाओं की भूमिका

यातायात तथा संचार के साधनों के विकास के साथ, मानव जीवन के हरेक क्षेत्र में वैश्वीकरण का बढ़ते जाना स्वाभाविक व अनिवार्य है। उस स्थिति में, कई देशों व समाजों के सम्पर्क व विचार विनिमय में अंग्रेजी का माध्यम उपयोगी हो जाता है।

अंग्रेजी की भूमिका दो प्रकार की है:

1. जिनके लिए अंग्रेजी मातृभाषा या घर की जबान है, वे अंग्रेजी के द्वारा जीवन के आधारित अनुभव आत्मबोध व सृजन शक्ति प्राप्त कर सकते हैं और उसी भाषा से अपने मन की बात प्रकट कर विचार विनिमय कर सकते हैं।
2. जिनके लिए अंग्रेजी मातृभाषा या घर की जबान नहीं हैं, वे अंग्रेजी के द्वारा व्यापक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और अन्य भाषा-भाषियों से सम्पर्क कर सकते हैं।

अत: जिनकी मातृभाषा अंग्रेजी है, वे अंग्रेजी के द्वारा व्यक्तित्व स्थापना के साथ व्यापक सम्पर्क भी कर सकते हैं।

वैश्वीकरण के युग में नि:संदेह, अंग्रेजी जैसी व्यापक अन्तराष्ट्रीय भाषा का महत्व बढ़ता ही जाएगा। पर यहां पर एक बात पर ध्यान देना होगा, संचार व विचार विनिमय के लिए यह आवश्यक है कि उससे सम्बद्ध हरेक व्यक्ति में मौलिक अनुभव, आत्मबोध व सृजन शक्ति विद्यमान हो। यदि कोई धाराप्रवाह अंग्रेजी बोले किन्तु उसमें आत्मबोध व मौलिकता न हो, तो उससे कौन विचार

* प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, तकुशोकू विश्वविद्यालय, तोक्यो, जापान

विनिमय कर सकता है?

भाषा ऐसा साधन नहीं है जो बाहर से लें, आते ही अपने घर की चीज बन जाए। नित्य के जीवन के अनुभव, उसके विनिमय के दौरान अपनी भाषा ग्रहण की जाती है। भाषा ग्रहण व व्यक्तित्व स्थापना गहराई से संबद्ध है।

II. जापान में विविध भाषाओं की भूमिका

जापान की एक विशेषता यह है कि वह प्राय: एक राष्ट्र से बना देश है जहां एक मात्र जापानी भाषा के माध्यम से राष्ट्र के बीच में विचार विनिमय किया जा रहा है। जापान में उच्चतर शिक्षा व अंतर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान के लिए अंग्रेजी व अन्य भाषाओं का अध्ययन व शिक्षण भी किया जा रहा है।

क. जापानी भाषा

जापानी भाषा की कई बोलियां हैं। पर पूर्वी जापान की बोली और पश्चिमी जापान की बोली का अंतर खड़ी बोली और भोजपुरी में अंतर जैसा है। पूर्वी सिरे के लोग और पश्चिमी सिरे के लोग अगर अपनी-अपनी बोली में धीरे से बोलें तो वे आपस में एक दूसरे को समझ सकेंगे।

सन् 1868 में स्थापित जापान सरकार के शासन में शिक्षा का प्रसार इतना हुआ कि आजकल जापान में अनपढ़ लोग प्राय: नहीं के बराबर हैं। रेडियो, दूरदर्शन, समाचार पत्र आदि प्रसारण माध्यम भी विकसित हैं। इन विविध कारणों के परिणामस्वरूप जापानी भाषा के एक सामान्य रूप का प्रसार हो गया है। जब लोग अपनी बोली क्षेत्र से बाहर जाते हैं, तब इसी सामान्य जापानी भाषा से आपस में सम्पर्क करते हैं और विचार-विनिमय करते हैं।

ख. अंग्रेजी भाषा

आज के जापान में अनिवार्य शिक्षा की सातवीं कक्षा से नौवीं कक्षा तक के तीन वर्ष में अंग्रेजी भाषा पढ़ाई जाती है। अनिवार्य शिक्षा पूरी करने के पश्चात् 95 प्रतिशत से अधिक छात्र-छात्राएं बारहवीं कक्षा तक पढ़ते हैं और उनमें से अधिकतर अंग्रेजी पढ़ते जाते हैं। इस प्रकार छ: वर्ष तक अंग्रेजी पढ़ने की सुविधा प्राप्त है। फिर भी बहुत ही कम छात्र-छात्राएं इस योग्य हो जाते हैं कि वे अंग्रेजी के माध्यम से नित्य जीवन में आवश्यक वार्तालाप कर सकें या विचार विनिमय कर सकें। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह है कि जापान में शिक्षा, शासन, व्यावहारिक कार्रवाई आदि सब जापानी भाषा में की जाती

है। जापान के अन्दर, जापानियों के बीच में अंग्रेजी बोलने की आवश्यकता नहीं होती। जिन संस्थाओं में अतर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित हैं वहां अवश्य ही अंग्रेजी आदि विदेशी भाषा की आवश्यकता भी पड़ती है, पर इस तरह की संस्थाओं में रहने वाले जापानियों की मात्रा बहुत ही सीमित है। जापान के छात्र-छात्राओं की अंग्रेजी योग्यता विकसित न होने का एक और कारण यह बताया जाता है कि विदेशी भाषा की शिक्षा प्रणाली में पढ़कर उसमें लिखित विषय को समझने की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, वार्तालाप के द्वारा विचारों के आदान-प्रदान करने की ओर कम। वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में इस प्रणाली में सुधार किया जाना आवश्यक है। वैश्वीकरण के विकास के साथ जापान के व्यावसायिक संस्थानों में अतर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं को देखते हुए अंग्रेजी भाषा में विचार विनिमय करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस स्थिति में, जापानियों में अंग्रेजी सीखने की इच्छा प्रबल होती जा रही है। इससे जापान के अतर्राष्ट्रीय कार्रवाई में विकास होने की संभावना है। पर कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ युवक अपनी मातृभाषा की ओर कम ध्यान देते हैं और *अंग्रेजी सीखों* का नारा लगाते हैं। इससे यह होता है कि उनकी न तो जापानी निजी भाषा बन पाती है और अंग्रेजी भी सतही स्तर की रह जाती है।

ग. अन्य विदेशी भाषाएं

सत्तरहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक का जापान, विदशों से अपने को अलग रखकर अपनी रक्षा कर रहा था। फिर भी उन दिनों, सरकारी संस्थाओं में कुछ विदेशी भाषाओं के अध्ययन व शिक्षण की सुविधाएं मौजूद थीं। पड़ोसी देश चीन की भाषा चीनी और यूरोप के व्यापारी देश हालैंड की डच भाषा पर महत्व दिया जा रहा था।

1967 में जब आधुनिक जापान देश का संगठन हुआ तब से सरकारी व गैर सरकारी संस्थाओं में कई विदेशी भाषाओं के अध्ययन व अध्यापन किए जा रहे हैं। इसका उद्देश्य है, विविध विदेशी भाषा के ज्ञान प्राप्त लोगों के योगदान के द्वारा गहराई के साथ अंतराष्ट्रीय सहानुभूति स्थापित की जाए।

परिणाम यह हुआ है कि आजकल के जापान में विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेजी के अलावा, फ्रेंच, जर्मनी, रूसी, चीनी भाषाएं पढ़ाई जाती हैं। कुछ विशिष्ट विश्वविद्यालयों में, जैसे टोक्यो व ओसाका के विदेशी शोध विश्वविद्यालय,

टोक्यो के दाइतो-बुनका विश्वविद्यालय, तकुशोकूं विश्वविद्यालयों में उपयुर्क्त भाषाओं के साथ-साथ अरबी, इंडोनेशियाई, फारसी, हिन्दी, आदि भी पढ़ाई जाती है।

इस तरह, विविध विदेशी भाषाओं में शिक्षित विशेषज्ञ, जापान के महत्वपूर्ण संस्थाओं में अतर्राष्ट्रीय विनिमय में कार्यरत हैं- व्यावसायिक कंपनियों में, विदेश मंत्रालय में, राष्ट्रीय प्रसारण संस्था एन एच आई सी के रेडियो जापान विभाग आदि में।

ऊपर जापान में विविध भाषाओं की भूमिका का सर्वेक्षण किया गया है। वैश्वीकरण व जापान की स्थिति को देखते हुए, हम जापनियों के लिए यह आवश्यक है। प्रथम, निज भाषा की प्राप्ति व विकास के लिए सतत् प्रयत्न किया जाए। द्वितीय, निज भाषा के माध्यम से प्राप्त अनुभव व मौलिकता के आधार पर अंग्रेजी के द्वारा व्यापक संसार से सम्पर्क किया जाए। तृतीय, विश्व के मुख्य-मुख्य राष्ट्रों की भाषाओं के द्वारा आपसी सहानुभूति का मार्ग बनाया जाए।

III. मातृभाषा के मर्म की झलक मुहावरे में

किसी उपयुक्त व्यक्ति के माध्यम से, हम अनजान भाषा में लिखित व कथित विषयों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। पर अनुवाद व दुभाषिए के माध्यम से प्राप्त जानकारी से तो हरेक भाषा के मर्म तक पहुंचना कठिन होगा। भाषा के मर्म की झलक, भाषा के विविध पक्षों में देखी जा सकती है। मुहावरा उसका एक उदाहरण है। मुहावरे तो, उस भाषा-भाषियों के नित्य जीवन से प्राप्त अनुभव का भंडार हैं। उनका मोटा अर्थ तो दूसरी भाषा में अनुवाद से भी समझ लिया जा सकता है, पर मुहावरे का रसास्वादन दूसरी भाषा के माध्यम से करना कठिन होगा। मनुष्य के अंगों को केन्द्रित करके बने कुछ मुहावरे नीचे दिए गये हैं। इस तरह के हिन्दी मुहावरों का चयन करते हुए लेखक को इस बात पर ध्यान आया कि हिन्दी और जापानी भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अलग होते हुए भी दोनों भाषाओं के मानव शरीर से सम्बन्धित मुहावरों में काफी साम्यता है।

उनके उदाहरण इस तरह दिए जाएंगे: पहली पंक्ति में हिन्दी मुहावरे और उनका अर्थ, दूसरी पंक्ति में सम्बन्धित जापानी मुहावरे और उनका अर्थ, और

तीसरी पंक्ति में जापानी मुहावरों के शब्दों के हिन्दी रूप।

1. कान उठाना। = सुनने के लिए प्रस्तुत होना।
   मिमि वो सोवादतेरू = सुनने के लिए ध्यान देना।
   कान को उठाना
2. छाती के किवाड़ खोलना = मन की बात साफ करना।
   मुने वो वह। = कुछ छिपाए बिना साफ कहना।
   छाती को फाड़ना
3. नाक काटना। = बेइज्जत करना।
   हना वे ओरू = बेइज्जत करना।
   नाक को तोड़ना
4. बाल बाल बचना। = आफत में पड़ते पड़ते बचना।
   कन इप्पत्सु = बड़े संकट से बचना।
   बीच में एक बाल (बचना)।
5. मुहं में कालिख लगाना। = बेइज्जत करना।
   कओनि दोरो वे नुरू = बेइज्जत करना।
   मुंह में मिट्टी को लगाना
6. सिर पर खून चढ़ना। = अति क्रोधित होना।
   अतामा नि चि गा नोबोरू = आपे से बाहर होना।
   सिर पर खून चढ़ना
7. हाथ आना। = प्राप्त होना।
   ते नि हइरू = प्राप्त होना।
   हाथ में आना
8. हाथ उठाना। = पीटना
   ते वो अगेरू = पीटने के लिए हाथ उठाना।
   हाथ को उठाना

ऊपर दिए गए मुहावरों से यह स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी और जापानी भाषाओं में मानव शरीर से सम्बन्धित मुहावरे, अपनी-अपनी भाषा की मौलिक चेतना के आधार पर बने हैं। फिर भी दोनों भाषाओं के इस प्रकार के मुहावरों में काफी साम्यता है। दूसरी और हिन्दी और जापानी के निजी और अनोखे मुहावरे भी होंगे।

हिन्दी का मुहावरा "नानी मर जाना" संभवत: इसका एक उदाहरण है। बच्चों को प्यार करने वाली नानी जब मर जाती है, तो उसी तरह के पारिवारिक वातावरण में पाले-पोसे लोग अवश्य ही शोक मनाते हैं और घबरा भी जाते हैं। जापानी में इस तरह के गठन वाला मुहावरा देखा नहीं जाता।

जापानी का मुहावरा "मित्सु गो नो तमाशी हयकु मदे मो" (तीन साल के बच्चे का स्वभाव सौ साल तक बना रहेगा) में यह देखा जाता है कि जापानियों के विचार में व्यक्तित्व की स्थापना तीन साल तक में हो जाती है, उसके पश्चात् उसमें परिवर्तन होना असंभव सा है। संभव है कि कुछ पाठकों को इस जापानी मुहावरे से हिन्दी मुहावरा "कोयला होय न उजला, सौ मन खारा साबून" का स्मरण हो जाए। पर हिन्दी मुहावरे के आधार में जन्म का विचार विद्यमान है, तो जापानी मुहावरे में बचपन की शिक्षा व वातावरण के महत्व विद्यमान हैं।

सूक्ष्मता के साथ विविध विदेशी भाषाओं का अध्ययन किया जाए, तो आशा है मुहावरों के द्वारा उस भाषा-भाषियों के मानसिक स्थिति व सामाजिक संगठन पर प्रकाश डाला जाए। इस तरह के मार्मिक अध्ययन पर महत्व देते रहने से यह आशा की जाती है कि वैश्वीकरण के युग में भी राष्ट्रों के बीच में सहानुभूति व मैत्रीपूर्ण सम्बंध संभव होगा।

यहां पर भारतेंदु हरिश्चन्द्र के उद्धरण के साथ यह आह्वान पूरा किया जा रहा है।

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटे न हिय को सूल।।

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में भारतेंदु के इस कथन पर ध्यान देने से हमारा भविष्य उज्जवल हो जाएगा।

टिप्पणी :

जापान में कुछ अल्पसंख्यक अवश्य हैं, जैसे उत्तरी जापान होक्काइदो के निवासी अइनू। उनकी अपनी भाषा, अइनू भाषा, जापानी से अलग है, पर आजकल अधिकतर अइनू लोग जापानी भाषा भी ग्रहण किये हैं।

विदेशों में हिन्दी

असगर वजाहत*

यह संक्षिप्त पर्चा वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में विदेशों में हिन्दी के पठन-पाठन पर ही केन्द्रित है। विदेशों में हिन्दी पठन-पाठन की स्थिति का स्वरूप एक जैसा नहीं है। अलग-अलग देशों ने अपनी परम्पराओं, आवश्यकताओं और उद्देश्यों के अनुसार हिन्दी पठन-पाठन को जारी रखा है।

विदेशों में भारतीय धर्म, दर्शन और भाषाओं के अध्ययन का इतिहास बहुत पुराना है लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में भारत के उपनिवेश बन जाने के बाद से ही चर्चा मुख्य मुद्दे पर केन्द्रित रहेगी। प्रसिद्ध हंगेरियन भारतविद् एलेक्जेंडर चोमा द करोश ने कहीं लिखा है कि भारत में उनकी रूचि क्यों हैं। उन्होंने यह स्पष्ट अंतर करते हुए लिखा है कि पश्चिमी यूरोप के भारतविदों की तुलना में उनकी रूचि अधिक आत्मीय, मैत्रीपूर्ण, और विनम्र है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि हंगरी उस समय हब्सबुर्ग साम्राज्य के अधीन था इसलिए चोमा द करोश शासक और शासित का अंतर जानते थे। उनके मन में विजेता देश या नस्ल का वह अहंकार नहीं था जो कही-कहीं पश्चिमी यूरोपीय विद्वानों में दिखाई पड़ता है।

उपनिवेश के दौर में भारतीय मनीषा का यूरोप में जो प्रचार-प्रसार हुआ वह वर्तमान में दो तरह से परिलक्षित होता है। यह भी रोचक है कि यूरोप और उत्तरी अमेरिका ने भारतीय ज्ञान और भाषाओं के प्रति जो अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाया वह उनकी सत्ता के चरित्र से मेल खाता है। उत्तरी अमेरिका के विश्वविद्यालयों तथा संस्थाओं में हिन्दी पठन-पाठन का उद्देश्य प्रायः आधुनिक भारतीय जीवन का अध्ययन है। यहाँ छात्र हिन्दी या दीगर

*प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली

भारतीय भाषाएं इसलिए पढ़ते हैं कि वे मूलत: भारत संबंधी किसी समाजिक, सांस्कृतिक विषय में रूचि रखते हैं और विषय के साथ न्याय करने के लिए तथा भारतीय समाज को गहराई से समझने के लिए हिन्दी सीखते हैं। यही कारण है कि उत्तरी अमेरिका में हिन्दी की पढ़ाई एक ऐसे लचीले रूप में होती है जो छात्रों को दूसरे विषय पढ़ने का अवसर प्रदान करती है। उदाहरण के लिए हिन्दी पढ़ने वाले छात्र का मुख्य विषय इतिहास, समाजशास्त्र, संगीत या पुरातत्व हो सकते हैं और हिन्दी वह अपने मूल विषय पर किए जाने वाले शोध कार्य को सुगम बनाने के लिए पढ़ता है। मतलब हिन्दी उसके लिए साधन होती है, साध्य नहीं। ऐसे छात्रों की संख्या कम ही होती है जो हिन्दी केवल इसलिए पढ़ते हैं कि उनकी केवल भाषा और साहित्य में रूचि होती है। उत्तरी अमेरिका में हिन्दी अध्ययन के संदर्भ में एक अन्य तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए। 1950 के आसपास उत्तरी अमेरिका के जितने विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती थी और जितने संसधान हिन्दी के पठन-पाठन के लिए उपलब्ध थे उतने आज नहीं हैं। 'पीस कोर' के अंतर्गत जितने छात्र हिन्दी और अन्य भाषाएँ पढ़ने भारत आते थे उतने अब नहीं आते। कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'कोल्डवार' के दौरान हिन्दी पठन-पाठन अमेरिका की एक राजनैतिक आवश्यकता थी जो अब समाप्त हो चुकी है।

पश्चिमी यूरोप चूँकि विश्व राजनीति में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका के सहायक की भूमिका में आ गया था और दोनों के हित भी एक से ही थे इसलिए वहाँ भी हिन्दी पठन-पाठन के उद्देश्य वही होने चाहिए थे जो उत्तरी अमेरिका में हैं। लेकिन अपने गहरे इतिहास तथा पूर्व से प्राचीन संबंधों के कारण पश्चिमी यूरोप में हिन्दी पठन-पाठन का स्वरूप उत्तरी अमेरिका से भिन्न है। यूरोप में हिन्दी पठन-पाठन तीन दिशाओं में आगे बढ़ रहा है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान में रूचि रखने वाले अपनी तरह से हिन्दी पढ़ रहे हैं। उत्तरी अमेरिका की तरह हिन्दी को 'मीडियम भाषा' के रूप में पढ़ा जा रहा है और प्रवासी भारतीयों की दूसरी-तीसरी पीढ़ी अपनी जड़ों की ओर लौटने के लिए भी हिन्दी पढ़ रही है।

मध्य और पूर्वी यूरोप की कहानी अलग ही है। हंगरी, पोलैण्ड और चैक गणराज्य में हिन्दी का पठन-पाठन व्यवसायिक दबावों और एक सीमा तक राजनैतिक महत्वकांक्षाओं से दूर विशुद्ध अकादमिक रहा है। आज वह भी

संकट में है क्योंकि वैश्वीकरण ने वहाँ की व्यवस्था को भी अच्छी तरह झकझोरा है और बाजार की शर्तें विश्वविद्यालयों पर भी लागू हो गयी हैं, लेकिन महत्त्वपूर्ण यह है कि यहाँ हिन्दी पढ़ने वाले चाहे संख्या में कम हों लेकिन उनमें हिन्दी के प्रति आस्था है। हिन्दी पठन-पाठन के संदर्भ में मध्य और पूर्वी यूरोप में भारत सरकार की नीतियाँ भी बहुत प्रभावशाली रही हैं। भारतीय सांस्कृतिक आदान-प्रदान परिषद ने भी मध्य और पूर्वी यूरोप पर पर्याप्त ध्यान दिया है। दुःखद यह है कि भारत की सांस्कृति नीति अपनी बिगड़ी छवि का अच्छा बनाने को रही है, न कि अच्छी छवि को और बेहतर बनाने की।

विदेशों में हिन्दी पठन-पाठन का एक अन्य क्षेत्र वे देश है जहाँ प्रवासी भारतीय अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक पहचान बनाने के लिए हिन्दी पढ़ते हैं। इन देशों में हिन्दी पठन-पाठन के साथ दिक्कत यह है कि वहाँ किसी हद तक हिन्दी हिन्दू धर्म का पर्याय बन गयी है।

वैश्वीकरण का मूल मंत्र एकरूपता स्थापित करना है जिसकी चपेट में वे छोटे सांस्कृतिक समूह आयेंगे जो आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से सक्षम सिद्ध न हो पायेंगे। निश्चय ही वैश्वीकरण के प्रभाव के कारण हिन्दी भाषा पर जो फर्क पड़ेगा वह विदेशों में हिन्दी पठन-पाठन पर नहीं बल्कि भारत में ही पड़ेगा। हाँ, यह संभव है कि भारत में हिन्दी भाषा पर पड़ने वाला प्रभाव वहाँ परिलक्षित हो। अकादमिक रूचि के कारण हिन्दी का पठन-पाठन या भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए हिन्दी सीखना या अपनी जड़ों को पहचानने के लिए हिन्दी के अध्ययन के पीछे तो ठोस ऐसे कारण हैं जिन पर वैश्वीकरण का प्रभाव तो अवश्य पड़ेगा पर ऐसा नहीं है कि हिन्दी जैसी भाषा पर कोई बड़ा संकट आ जायेगा।

विदेशें में हिन्दी पठन-पाठन को आगे बढ़ाने के लिए जो प्रयास किए जा सकते हैं उनका उल्लेख आवश्यक है। अपने निजी अनुभवों के आधार पर मैं कुछ बिन्दुओं की ओर संकेत करना चाहता हूँ। विदेशों में भाषा पढ़ाने की जिन वैज्ञानिक पद्धतियों का विकास किया गया है उन पर हमारे देश में कम ही ध्यान दिया जाता है। यही कारण है कि भारत के भाषा अध्यापक विदेशों में छात्रों की अपेक्षाएँ उस तरह पूरी नहीं कर पाते जैसी कि उनसे आशा की जाती है। इसलिए विदेशों में हिन्दी पढ़ाने के विशेष पाठ्य-क्रम अध्यापको के लिए

बनाये जाने चाहिए। दूसरी दिक्कत शुद्ध पाठ की आती है। हिन्दी में अब तक यह लापरवाही चली आ रही है कि पाठ की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। एक-एक रचना के कई-कई पाठ मिलते हैं और यह तय कर पाना विशेष रूप से किसी विदेशी के लिए कि कौन सा पाठ सही है और कौन सा पाठ अशुद्ध है कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' के पाठ पर विचार किया जा सकता। हर संकलन में इस कहानी का एक अलग पाठ मिलता है। प्रेमचंद की रचनाओं के साथ भी यह समस्या है। एक दूसरी समस्या पाठ में अतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचलित जानकारियाँ न देने की प्रवृत्ति है। यह हम लोगों को तो नहीं खटकती पर विदेशों में हिन्दी पढ़ने वालों के लिये समस्या बन जाती है। उदाहरण के लिए यदि लेख में किसी स्थान पर किसी लेखक के नाम का उल्लेख होता है तो उसके जन्म-मरण आदि संबंधी तिथियाँ देने का हिन्दी में रिवाज कम ही है, जबकि यह विदेशियों के लिए समस्या हो जाती है। हिन्दी शिक्षण को जिस तरह इलैक्ट्रानिक माध्यमों से लैस होना चाहिए वैसा भी नहीं है।

इन कमियों को पूरा किया जाना कठिन नहीं है। विदेशों में हिन्दी शिक्षण को और गंभीरता से लिया जा सकता है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया विदेशों में हिन्दी पठन-पाठन पर बहुत अधिक प्रभावित कर पायेगी इसमें संदेह है।

परिचर्चा : संक्षिप्त विवरण

परिचर्चा : संक्षिप्त विवरण

पहला दिन : पहला सत्र

ओम प्रकाश केजरीवाल: आप सबका पुन: स्वागत है। हमारे अध्यक्ष लक्ष्मी प्रसादजी को किसी कार्यवश तुरन्त संसद में जाना पड़ा तो हमने अपने मित्र मधुकर उपाध्यायजी से कहा है कि वे सत्र की अध्यक्षता करें। संक्षेप में मधुकर उपाध्याय के बारे में बता दूँ कि ये बी. बी. सी. में 10 साल तक थे और इनकी कई किताबें हैं, एक तो बड़ी प्रसिद्ध हुई *फिफ्टी डेज टू फ्रीडम*, उसके बाद इन्होनें कई बड़े-बड़े काम किए है। एक साल तक ये दूरदंराज के देशों में गए और वहां की रिर्पोटिंग की । इनकी किताबें तो खैर कई हैं, लेकिन आप लोगों में से कुछ को पता होगा, इन्होने किया था सीताराम पाण्डे की डायरी, जो 1857 के दौरान अवधि में लिखी गई थी, उसका इन्होने पता लगाया अब मैं इनसे अनुरोध करूंगा कि इस सत्र की अध्यक्षता करें।

मधुकर उपाध्याय: सभी उपस्थित बंधुओं इस सत्र में आप सबका स्वागत है और चूंकि अब आलेख पाठ का क्रम शुरू होता है, तो उसकी शुरूआत के लिए कृष्ण कुमारजी से बेहतर नाम शायद हमारे पास न होता जो शिक्षाविद् हैं, भाषाविद् हैं और निरंतर इन विषयों पर लिखते रहे हैं, इन्होनें गम्भीरता से लेखन किया है और भाषा के मामले में उनकी एक साख है वह जो कहते हैं उसे माना जाता है। कृष्ण कुमारजी का परिचय आप लोगों से कराने की शायद जरूरत नहीं होगी लेकिन संक्षेप में मैं इतना कहना चाहूंगा कि आपने 1979 में इंस्टीट्यूट फार दी स्टडी, इंटरनेशनल प्राब्लम्स इन एजूकेशन स्टाकहोम के गेस्टिस कालेज से पी. एच डी. की डिग्री हासिल की थी। आपकी कई किताबें हैं, जिसमें एक मशहूर पुस्तक है *राज्य, समाज और शिक्षा*। कृष्ण कुमारजी जवाहरलाल नेहरू स्मारक निधि के फैलों भी रह चुके है और आजकल दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में कार्यरत हैं।

कृष्ण कुमार: मधुकर उपाध्यायजी, डा॰ केजरीवाल और दोस्तो, एक इतिहास

हिन्दी का है, एक इतिहास हिन्दी की चर्चाओं का है, जो किसी भी ऐसी चर्चा के समय अपने आप लाक्षणिक रूप से आकर पसर जाता है।

आलेख पाठ : कृष्ण कुमार

चर्चा

मधुकर उपाध्याय : आपने अभी प्रो० कृष्ण कुमार का विचारपूर्ण आलेख सुना, जिसमें उन्होने कई बातें कहीं, वैश्वीकरण के सन्दर्भ में आपातकाल शब्द का इस्तेमाल भी किया। अब हम इस आलेख पर चर्चा शुरू करते है और अगर आपके पास इस आलेख पर या कृष्ण कुमारजी द्वारा उठाए गए मुद्दों पर प्रश्न हैं तो वे उसका जवाब देंगे।

श्रोता: आदरणीय प्रो० साहब ने एक बात कही कि सूचना क्रांति गरीबों और साधनहीनों के प्रति एक षडयंत्र है। ऐसा लगता है कि जिसके पास साधन हैं, वह और अधिक साधन जुटा लेता है। भाषा का संबंध साधनों से और आर्थिक शक्ति से हमेशा रहा है। जिसके पास आर्थिक शक्ति और राजनीतिक शक्ति हैं, वह अपनी भाषा दूसरों पर थोप ही देता है। विश्व इतिहास में आपको इसके उदाहरण मिलेंगे। तो क्या यह आवश्यक नहीं लगता कि "हिन्दी बैल्ट" जिसे आपने हिन्दी पट्टी कहा आर्थिक दृष्टि से कमजोर है, निर्धनता ज्यादा है और शिक्षा के क्षेत्र में बहुत ही पिछड़े हुए हैं तो उनकी भाषा अगर आज उपेक्षित हो रही है तो क्या यह आवश्यक नहीं कि उस भाषा को बचाने के लिए उन क्षेत्रों की प्रगति की बात की जाए। आपने कहा कलकत्ता और बम्बई में इनकी निर्धनता सड़कों पर बिखरी है, मैं मानता हूं सड़कों पर बिखरी है तो क्या इसका विकल्प यह नहीं हो सकता था कि जिस रोजगार के लिए वे कलकत्ता या बम्बई जैसी महानगरी में भागते हैं, वह रोजगार उनको वहीं दिलाए जाते, उनकी निर्धनता वहीं समाप्त की जाती, इसके बारे में आपकी सोच और आपके प्रयत्न की दिशा क्या है, यह मैं जानना चाहता हूं।

कृष्ण कुमार: उपाय तो आपने बता दिया है। मेरा भी वही सुझाव है।

राजेश्वर गंगवार: मैं भारतीय रिजर्व बैंक, बम्बई, में महा प्रबन्धक हूं और पिछले एक वर्ष से राजभाषा के कार्य से जुड़ा हुआ हूं। बैंकों के संदर्भ में, राजभाषा की प्रगति के लिए सूचना प्रोद्योगिकी की चूंकि आवश्यकता ज्यादा है,

इसलिए मेरी रूचि का विषय भी है। मैंने दो वर्ष पहले एक पुस्तक का प्रकाशन भी रिजर्व बैंक की ओर से करवाया है। *कम्प्यूटर परिभाषा कोर्स*, जो भारतीय रिजर्व बैंक ने प्रकाशित की है और हिन्दी में इस तरह का यह पहला कोर्स है जिसमें कम्प्यूटर से सम्बंधित शब्दों को परिभाषा के रूप में नहीं दिया बल्कि उनका उपयोग और उनके सन्दर्भ में जो कुछ भी विशेष बातें होती है, बताई गई हैं।

आलोक राय: मैं आई.आई.टी. में पढ़ाता हूं। कृष्ण कुमारजी ने जो इतनी सारी बातें उठाई हैं, उसमें से मैं एक चीजें ही पकड़ पाऊंगा, लेकिन क्योंकि अध्यक्षजी ने कहा कि जरा बहस हो तो मैं सारी बातें तो नहीं उठाऊंगा, लेकिन कुछ कहना चाहता हूं। हम लोग जिस बात की चर्चा कर रहे हैं इसमें मुझे तीन-चार सवाल अलग-अलग नजर आते हैं, मैं चाहता हूं उनको सामने रख दूं ताकि फिर हम सोच सकें कि हम उनमें से किस सवाल पर खासतौर से बात करना चाहते हैं। मुझे लगता है कि ये सवाल कुछ इस तरह से हैं।

पहला सवाल तो यह है कि हिन्दी भाषा का संकट है कि अंग्रेजी फैल रही है, हिन्दी भाषा का क्षेत्र कम होता जा रहा है, शिक्षा में उसका प्रभाव कम हो रहा है।

दूसरा हिन्दी भाषियों का संकट है, यानी कि वह वर्ग या एक वर्ग जिसने कि हिन्दी की खेती की है, वह भी महसूस कर रही है कि उसके ऊपर एक संकट आया है। उसकी ओर कृष्ण कुमारजी ने भी संकेत किया था कि पिछले 50 साल में एक तरह की *एलीट पोलीटिक्स* थी जोकि हिन्दी के जरिए की गई। एक तरह का संकट यह भी है कि वह जो *एलीट पोलीटिक्स* हिन्दी की थी, वह हिन्दी और हिन्दी स्टेट से जुड़ी हुई थी, वह पोलीटिक्स एक तरह से संकट से गुजर रही है।

तीसरा जो संकट है वह है हिन्दी क्षेत्र का संकट और इसलिए वह हिन्दी भाषा के संकट से सीधे जुड़ता है, लेकिन वास्तव में वह हिन्दी क्षेत्र का संकट है और हिन्दी क्षेत्र का जो संकट है इसका ताल्लुक जाहिर है वैश्वीकरण, भूमण्डलीकरण, विश्वायन या जो भी शब्द आप इस्तेमाल करना चाहें उससे है। जिस तरह का *इक्नामिक डेवलपमैंट* हो रहा है, या जिस तरह का *इक्नामिक डेवलपमैंट* होने वाला है, इधर कई लोगों को लगने लगा है कि उसका सबसे

ज्यादा बुरा असर हिन्दी प्रदेश, हिन्दी पट्टी पर ही होने वाला है और जिस संकट की हम बात कर रहे है, मेरी नजर में वह मुख्यत: यह संकट है और फिर परोक्ष रूप से ही हिन्दी भाषा का उस पर असर नजर आता है।

इनफारमेशन टैक्नॉलाजी एक तरह का *एजूकेशन बेस* मांगती है जोकि हिन्दी पट्टी में मिलती नहीं है। वैश्वीकरण के सम्बंध में एक बात और थी जोकि कृष्ण कुमारजी ने नहीं कही, मैं चाहता हूं कि वह इस सभा में सामने आ जाए। वह एक और शब्द है जोकि इस प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है और वह है *प्राइवेटाइजेशन - प्राइवेटाइजेशन आफ दि इक्नामिक इन्फ्रास्ट्रक्चर*, यह प्रक्रिया काफी चल चुकी है और ज्यादा गहरी होगी। कृष्ण कुमारजी ने अफ्रीका का जिक्र किया, लेटिन अमेरिका का जिक्र किया, वहां पर नीजिकरण से क्या होता है, इसका असर आज देखा जा रहा हैं। इसका एक असर जिसका कि सीधा सम्बंध हिंन्दी क्षेत्र के संकट से जुड़ा हुआ है, वह है डेमोक्रेसी पर। अब सवाल आता है कि यह प्रभाव यह संकट, हिन्दी भाषियों पर, हिन्दी क्षेत्र में, हिन्दी पट्टी के लोगों पर पड़ेगा तो उसकी अभिव्यक्ति कैसे होगी, किस भाषा में होगी, किस जरिए होगी, किन माध्यमों से होगी, यह स्पष्ट नहीं है। किसी जमाने में हिन्दी भाषा, जैसा कि कृष्ण कुमारजी ने कहा संघर्ष की भाषा थी। पिछले 50 साल में हमने देखा है कि हिन्दी संघर्ष की भाषा नहीं बल्कि सत्ता की भाषा है और सत्ता से लाभ उठाने की भाषा बन गई है। अब सवाल यह है कि यह जो हिन्दी क्षेत्र का संकट है, इसकी अभिव्यक्ति सिर्फ हिन्दी के जरिए हो सकती है? अगर इसकी अभिव्यक्ति हिन्दी के जरिए नहीं होगी तो किसी-न-किसी रूप में यह संकट अपने आपको राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्त करता रहेगा। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि हिन्दी की जो संघर्ष की परम्परा है, उससे हम फिर से किसी तरह से जुड़ सकें, ताकि हिन्दी क्षेत्र पर जो आर्थिक संकट है, और ज्यादा गहराने वाला है, उसको अभिव्यक्ति मिल सके। इसलिए मेरी नजर में यह जो तीन संकटों की बात थी, उनमें सबसे जरूरी बात जो है वह है हिन्दी क्षेत्र पर जो संकट है और उस क्षेत्र की अभिव्यक्ति जोकि सिर्फ हिन्दी भाषा से हो सकती है, इसलिए हिन्दी भाषा का संकट भी इससे जुड़ा हुआ है।

कृष्ण कुमार: मैं आलोक का बहुत शुक्रगुजार हूं कि उन्होने इस आलेख की दो-तीन बातों को खोलकर और वर्गीकृत करके दिखाया है। मेरे पास आपकी

टिप्पणी पर कहने के लिए नया तो कुछ नहीं है, पर निजीकरण की जो बात आपने की कि यह एक बहुत बड़ा आयाम है, निजी पूंजी के जरिए बदलने वाला खेल और आर्थिक क्षेत्र को निजी डब में ही सोचा जाना है तो उसके बहुत गहरे राजनीतिक परिणाम होते है। मूलत: यह बात सच है। मैं इस आलेख में इशारा सिर्फ यही करना चाहता था, जो आप तक पहुंचा भी होगा कि यह परिस्थिति का एक तरह से श्लेष है कि हिन्दी भाषा को लेकर यह एक मौका भी है कि यह सत्ता के दलालों से मुक्त हो सकती है, इन क्षणों में क्योंकि वैश्वीकरण ने राज्य की टांग भी तोड़ी है और इसलिए राज्य का एक आयाम बन जाने का जो एक नुकसान इस भाषा को हुआ था उससे मैं आपसे एकदम सहमत हूं, वह एकदम विशुद्ध नुकसान था, आज इसमें मिलावट भी देखना मुश्किल हो रहा है वह नुकसान आज इस आपातकाल के जरिए कुछ कट सकता है। यह एक अजीब सी परिस्थिति है। लेकिन कांटे से कांटा निकलता है। हो सकता है कि ऐसा हो। परन्तु इससे बहुत ज्यादा आशा नहीं करनी चाहिए। आपका कहना सच है कि अगर हिन्दी क्षेत्र कंगाली का और सांस्कृतिक टूटन का विषय बनेगा तो उस संघर्ष से मुकाबला करने के लिए राज्य, हमारे पास एक हथियार है और इसलिए इस परिस्थिति में जो तनाव है, आप देख सकते हैं कि इस भाषा का विमोचन राज्य की गर्दन दबने में है और इस क्षेत्र का विमोचन राज्य के पुष्ट होने, उसके विस्तार और खासतौर से लोकतंत्रीकरण में है। अब इसमें जैसा कि मैंने आपसे कहा कि अगर किसी तरह का कोई *डायनामिक* दिखाई देता है तो वह यही दिखाई देता है कि आज स्कूलों कालेजों के दरवाजों पर एक नई तरह के लड़का या लड़की पहुंचे है, वह क्या रूप लेगा। वह भी सत्ता के खेल में फंसी हुई इस भाषा का वही खेल खेलेगा या वह इस भाषा को अपने हक की मांग के लिए इस्तेमाल करेगा, यह एक अनुत्तरित प्रश्न है। शायद आज एक अवरूद्ध प्रश्न है, जैसे अशोक बाजपेयी कई प्रश्नों के बारे में कहते रहे हैं कि कुछ प्रश्न ऐसे हैं कि जिनको पूछने के लिए हमारे पास इस समय औकात नहीं है, हमारे पास कई तरह की गोटियां नहीं हैं, शायद यह उसी तरह का प्रश्न है। पर आपकी कुल बात से सहमत होते हुए वैश्वीकरण का जो यह पहलू है जिससे मैं एक तरह से वैश्वीकरण के कुपलों से परिचित हूं, आतंकित भी हूं, लेकिन उसमें आप कह सकते हैं यह वाली खिड़की, मुझे एक तरह का *डाइआबालिकल* आनंद भी दे रही है कि कम-से-कम इस बहाने मुझे

बच्चूप्रसाद सिंह जैसे लोगों से मुक्ति मिलेगी, इस बहाने मुझे उन तमाम हजारों सरकारी पत्रिकाओं से मुक्ति मिलेगी, जिनमें हिन्दी जनता की मेहनत से कमाए गए धन को खर्च किया गया है और जो अपठनीय है। उन सैंकड़ों, हजारों किताबों से मुक्ति मिलेगी इसलिए खरीदी जाती हैं क्योंकि उसमें धन इस्तेमाल होता है। यह पूरा एक नकली तंत्र है, जिसको बने हुए आज कम-से-कम 54 साल हो रहे हैं। और जो इससे पहले से बनना शुरू हो चुका था, उसके प्रति नफरत आज हम आराम से दिखा सकतें हैं, क्योंकि आज की वैश्वीकृत हुई संचार व्यवस्था में अब हमें उनसे कुछ पाने की कोई उम्मीद नहीं रही बल्कि किसी को नहीं रही। इसलिए एक तरह का आनंद भी हमको इसमें मिलता है। काश सुरेन्द्र प्रताप सिंह आज यहां होते, मैं समझता हूं सुरेन्द्र प्रताप सिंह ने इस आनंद को जिस वक्त पहले महसूस किया था हिन्दी के किसी व्यक्ति ने नहीं किया था और आज से करीब 8-10 साल पहले *इंडिया टूडे* के वार्षिक अंक के एक इन्टरव्यू में उन्होने कहा था कि भाई साहब यह रोने का क्षण नहीं है, आप देखेंगे कि इसमें से बहुत कुछ खुलेगा और एक तरफ हमारी मुसीबतें भी बढ़ेगी पर एक जेल भी खुल रही है और उसका नजारा भी आप देखेंगे। मैं समझता हूं कि सुरेन्द्रजी की जो दृष्टि थी वह ठीक है और कई जगह सरलीकृत लगती है।

श्रोता: कृष्ण कुमारजी की बातों से एक बात बड़े अजीब तरीके से सामने आती है। ऐसा लगता है कि हिन्दी की सारी जिम्मेदारी शासकवर्ग के साथ थी या सरकार के साथ थी। आज जिस स्थिति में हम पहुंचे हैं वह इसलिए हैं कि सत्ता के साथ इसका जो सम्बंध था या सत्ता ने उसको जिस तरह से इस्तेमाल किया, उसके कारण इसकी दुर्गति हुई है। असल में जैसे आलोकजी कह रहे थे जहां तक किसी भी भाषा का सम्बंध है, उसे मूलत: किसी भी समाज को संगठित करके लड़ने के लिए प्रेरित करना चाहिए, यूरोप के इतिहास में, कम-से-कम आधुनिक इतिहास में आपको इसके कई उदाहरण देखने को मिलते हैं। हमारे यहां ऐसा नहीं हुआ, हमारे यहां हिन्दी दबती गई और हमारा मध्यम वर्ग, विशेषकर हिन्दी का मध्यम वर्ग लगातार दौड़-दौड़ कर अंग्रेज़ी की गाड़ी में सवार होता गया। आप यह देखिए कि हिन्दी की मांग के लिए कभी भी हिन्दी समाज की ओर से, मेरा तो कहना है कि 30 वर्ष से, कोई भी ऐसा उद्यम या आन्दोलन या ऐसा कोई प्रयत्न नजर नहीं आता जो सरकारी, राजनीतिक तंत्र,

जिस तत्र को आप इतना गलिया रहे हैं, उसके बाहर हो। ऐसा कहीं नजर क्यों नहीं आता? क्या कारण है कि मध्य वर्ग और उच्च वर्ग ने पूरी तरह हिन्दी छोड़ दी है। इन सवालों पर भी विचार होना चाहिए। यह बहुत गम्भीर सवाल है।

असल में मूलत: ज्यादा बड़ा संकट इस बात का है कि आप ज्यादा-से-ज्यादा सुविधा बटोर लेना चाहते हैं और एक तरह से यह ब्राह्मणवादी मानसिकता है जो यह चाहती है कि एक ओर भाषा का प्रसार हो जाए और उसके साथ जो नए लोग आ रहे हैं और उससे जो प्रतियोगिता, प्रतिद्वंद्विता कर रहे हैं, उनको वह प्रतिद्वंद्विता से बाहर हटा दे। यह बात कहना गलत है, बिल्कुल गलत है कि वैश्वीकरण से शायद हिन्दी को एक जीवन मिलेगा और वह सांस लेने की स्थिति में होगी। हुआ उल्टा है। सारी दुनिया का यह रिकार्ड है और यूनेस्को कह रहा है कि सारी दुनिया की भाषाएं मर रही हैं, हिन्दी कैसे बच जाएगी। मेरे ख्याल से ये कुछ बाते हैं, जिनको सोचा जाना चाहिए।

विमलेश कांति वर्मा: कृष्ण कुमारजी का जो आलेख है वह भाषा के सन्दर्भ में उतना न हो कर के हिन्दी समाज के सन्दर्भ में ज्यादा है। मैं उनसे यह जानना चाहता था, एक जिज्ञासा के रूप में, कि जो सूचना क्रांति की बात है, जो संचार की बात है, जो वैश्वीकरण की बात है, उसमें हिन्दी भाषा का स्वरूप क्या होगा, इस पर उनकी क्या दृष्टि है?

राजेश्वर गंगवार: आपके आलेख से लगता था कि भाषा और विकास में बहुत घना सम्बंध है। मैं यह जानना चाहता हूं कि भाषा का विकास और विस्तार किस तरह से आप स्पष्ट करेंगे।

कुमकुम सांगरी : मैं पूरा आलेख सुन नहीं पाई, लेकिन मैं भी एक प्रश्न उठाना चाहूंगी जो शायद लोग पहले भी उठा चुके हों। हम सिर्फ हिन्दी को इस तरह से देख रहे हैं जैसे हिन्दी के ऊपर बाहर से संकट हो, लेकिन अगर हिन्दी को देश काल के सन्दर्भ में देखा जाए तो आप देखेंगे कि वह अंग्रेज़ी से काफी जुड़ी रही। जिस तरह से और भाषाएं उभरीं, जिस तरह से उनके व्याकरण स्कूलों में पढ़ाने लायक हुए, उनके साथ अंग्रेज़ी का काफी जुड़ाव था और अब अगर हम और भी आगे, पिछले 10-20 सालों में देखें तो हम देखेंगे कि जो लोग आम तौर पर हिन्दी का इस्तेमाल करते हैं या हिन्दी पढ़ते हैं उसमें उन

शब्दों का भी इस्तेमाल करते हैं जो अंग्रेज़ी से लिए गये हैं। हिन्दी भाषा का जो विकास हुआ है उसमें पहले भी दूसरी भाषाओं से बहुत से शब्द लिये गये हैं। वह बहुत भाषाओं से जुड़ी है और जुड़ी रहेगी, जैसे-जैसे नए कांसेप्ट आते हैं तो उनको अपने अंदर लेने के लिए सब भाषाएं अपने अंदर तरह-तरह से अनुवाद करती है, अंग्रेज़ी में भी यही हुआ था। तो मुझे लगा कि इस पर भी विचार होना चाहिए कि वैश्वीकरण के युग में, जिसकी आप बात कर रहे हैं, अंग्रेज़ी और हिन्दी का जो ऐतिहासिक जुड़ाव है, वह हिन्दी को कहां ले जाएगा? सत्ता की भाषा एक अलग चीज है लेकिन हिन्दी के इस्तेमाल पर, अंग्रेज़ी का बहुत भारी प्रभाव है।

कृष्ण कुमार: मुझे तीनों सवालों के बारे में यही कहना है कि हिन्दी भाषा के भविष्य को या उसके अनुभव के विश्लेषण की कोशिश को हम हिन्दी समाज की वर्गीय संरचना के अध्ययन से अलग नहीं रख सकते और इसी सिलसिले में मेरी यह कोशिश थी कि हिन्दी समाज के साथ जो आर्थिक परिस्थितियां हैं उनको फोकस में लाकर सारी चर्चा की जाए। पंकजी ने जो बात कही है, शिक्षित मध्य वर्ग की और उसके द्वारा हिन्दी को गच्चा दिए जाने और अंग्रेज़ी के प्लेटफार्म पर सवार हो जाने की, इसमें किसी को कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती, जैसा मैंने आपसे इस आलेख के शुरू में ही कहा था कि यह जो करार था 1967 का जिसके अंतरगत अंग्रेज़ी को 'असोसिएट लैंग्वेज' का दर्जा मिलने वाला था, बहुत समय तक जो बना रहने वाला था, जो आज भी बना हुआ है, वह करार दो 'एलीट्स' का करार था। उसमें जो हिन्दी प्रांत का शिक्षित मध्य वर्ग था और उसका जो नेतृत्व था जो जाहिर है कि जातीयतौर पर एक स्वर्ण नेतृत्व था, उसका उपनिवेशकाल में उपजे हुए अंग्रेजी भाषी अभिजन के साथ करार था। इस करार को देख कर इन के वर्गो की जो परिणति है, उसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अब इसमें मैं क्यों इतना जोर हिन्दी की दलाली करने वाले नेताओं और सरकार के द्वारा किए जाने वाले प्रयासों पर देता हूं, यह एक सवाल नजर आता है जो शायद दूसरे और तीसरे सवाल से भी जुड़ता है कि हिन्दी भाषा के स्वरूप का क्या कोई भविष्य हम निर्धारित कर सकते हैं, जबकि यह जो गठबंधन है यह वैश्वीकरण की आंच में पिघलने की सम्भावनाएं बना रहा है। मुझे लगता है, जो मैंने कहा भी है कि एक के बाद एक नेता के द्वारा हिन्दी को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल होने के सिलसिले

के अंत के कई निहितार्थ हैं। आए दिन कोई न कोई नेता कहता ही है कि आज जब में मुख्य मंत्री बन गया हूं मैं हिन्दी का प्रयोग करूंगा तो ऐसा लगता है कि जैसे वह कह रहा है कि मैं अपनी जुराबें धोकर पहनूंगा। उनसे पूछने का मन होता है कि भाई साहब, आपको इसकी घोषणा करने की क्या जरूरत है, आप बोलिये अच्छी बात है, आपकी भाषा है, आप जो मर्जी करें, इसको आप बरतिए तो हमें बहुत खुशी होगी। पर इसमें जो घोषणा का तत्व है, इस तत्व ने कम-से-कम 30-35 वर्ष की छात्र राजनीति को वर्गीय जातीय राजनीति को बहुत गहराई से प्रभावित किया है और मैं समझता हूं कि जैसे इस तरह जो दल उत्तर प्रदेश में सत्तारूढ़ हैं और केन्द्र सरकार में जिसका दबदबा है, वह शायद इसके इस्तेमाल में सबसे आखिरी पड़ाव था। किसको आशा नहीं थी कि जब भाजपा का शासन आएगा तो कम-से-कम हिन्दी बोली जाएगी और वाजपेयीजी ने स्वयं एक बार 9 करोड़ रूपए खर्च करवाकर राष्ट्रसंघ में हिन्दी बोलकर दिखाई थी, पर वह इस बार नहीं बोली। इस बार जब वह आतंकवाद पर बोल रहे थे तो उस वक्तव्य की भाषा हिन्दी नहीं थी।

श्रोता : इस बार भी हिन्दी में बोले थे।

कृष्ण कुमार: बहरहाल वह अब पत्रकार सभाओं में या अन्य स्थानों पर उतने उत्साह से हिन्दी का उपयोग नहीं करते और जो एक माहौल बना था कि इस पार्टी के साथ हिन्दी का भविष्य सुरक्षित है, वह आज नहीं दिखता। हिन्दी का इस्तेमाल किस रूप में किया जाए, यह समस्या हिन्दी के विकास की समस्याओं से जुड़ी हुई रही है और खासतौर से अगर आप उच्च शिक्षा के सन्दर्भ में देखें तो एक बड़ा महत्वपूर्ण सवाल था कि वह कौन सी भाषा थी जिसका इस्तेमाल उच्च शिक्षा में होने वाला था। उसका निर्माण आर.के. पुरम में हिन्दी निदेशालय में होना था या किस-किस प्रदेश में कहां वह शब्दावली बननी थी, उस शब्दावली ने निश्चित रूप से एक शिक्षा के अध्येता के तौर पर मैं कह सकता हूं, स्वयं शिक्षा के विस्तार में सबसे बड़े अवरोध का काम किया है। आज अगर आप हिन्दी माध्यम स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे की तीसरी या चौथी की गणित भी पढ़े तो एक हिन्दी भाषी माता-पिता के रूप में आप अपना माथा पकड़ लेंगे कि आप उस गणित को उस बच्चे को इसलिए नहीं समझा सकते क्योंकि उस गणित की भाषा आप स्वयं नहीं समझ सकते, भले ही वह तीसरी क्लास की हिन्दी है। क्यों है ऐसा, वह इसलिए है कि जो शब्दावली हिन्दी के

ज्ञान-विज्ञान में इस्तेमाल करने के लिए सत्ता द्वारा दिए गए पैसे से तैयार हुई, वह शब्दावली हिन्दी के लिए स्वंय एक बड़ा बोझ बन गई। इस दृष्टिकोण से मैं देखता हूं। कम्प्यूटर कैसे चलाएं, इस पर अगर आप हिन्दी की किताब पढ़े तो आप देखेंगे कि वह हिन्दी वो नहीं है जिसको निदेशालय ने बनाया है। वह हिन्दी केवल समझाने के लिए बनाई गई है। और आज जहां कहीं हिन्दी का कोई शिक्षक हिन्दी में समाजशास्त्र पढ़ाने की कोशिश कर रहा है, वह विज्ञान के बारे में कुछ कह रहा है, हालांकि ऐसे लोगों की संख्या अब गिनने योग्य रह गई है, तो उसको उस शब्दावली से सहारे की उम्मीद नहीं रह गई है।

हिन्दी के स्वाभाविक विकास का लक्षण मुझे नजर आता है। जब मैं हिन्दी का बुलेटिन सुन लेता हूं, अंग्रेज़ी का बुलेटिन भी सुन लेता हूं तो मै पंजाबी का अवश्य सुनता हूं क्योंकि पंजाबी वह भाषा है जिसको निदेशालयों ने नहीं बनाया और इसलिए उसमें जब किसी मंत्री का जिक्र होता है तो सड़कां दे मंत्री होता है, परिवहन मंत्री नहीं होता, भूतल परिवहन मंत्री तो एकदम ही नहीं होता, वह सड़कों का मंत्री होता है क्योंकि उस भाषा का कोई आवरण नहीं है, कोई उसका दंभ नहीं है। दंभ से उपजा हुआ कोई दायरा नहीं है और इसलिए वह आज भी एक महमहाती हुई भाषा है, हिन्दी को लेकर जो एक डर रहता है कि अच्छा अब हिन्दी बोलना है, थोड़ा तैयारी से बोलना है, हिन्दी बोलकर दिखाने वालों की जो एक परम्परा रही है, वह परम्परा अब कलकत्ता पहुंची हुई गंगा है, वह अब खतम हो रही है और अब वह समय आने वाला है जिसमें लंदन में हिन्दी के वैश्वीकरण पर सम्मेलन नहीं हो पाएंगे, क्योंकि राज्य के पास अब वह पैसा नहीं रहा कि वह इन सम्मेलनों को करे और दुनियाभर में, मारीशस में हिन्दी और पश्चिमी अटलांटिक महासागर के द्वीपों में हिन्दी और इस सब का नाटक करके दिखाए। राज्य का हिन्दी कोष अगर आज घट रहा है तो यह एक सुखद सूचना है। भले ही छोटी सूचना हो। हो सकता है मैं पंकजजी से सहमत होऊं कि यह बहुत बड़ी सूचना नहीं है पूंजी की दुनिया की सूचनाएं, ज्यादा संकट में हैं।

मैं कुमकुमजी से भी सहमत हूं कि हिन्दी का स्वभाविक विकास होगा, वह विकास किसके दबदबे में होगा, किस तरह होगा, इस तरह की कोई भी भविष्यवाणी करना व्यर्थ है, लेकिन आज जो हिन्दी बोली जा रही है, इलाहाबाद की सड़कों पर, पटना की सड़कों पर, उस हिन्दी पर यह आवरण कुछ कम

शक्ति से पड़ा हुआ नजर आता है, जिस आवरण के कारण मुझे लगता है कि हिन्दी शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान में हुए विकास क्रम से वंचित रही है और उसके शब्दों का निर्माण एक स्वाभाविक क्रम से होने की जगह इस कृत्रिम प्रक्रिया से हुआ, उसका अर्थविस्तार कृत्रिम प्रक्रिया से हुआ। यहां तक कि आज आप आकाशवाणी पर किसी को भूकम्प पर बात करते सुनते हैं तो वह अगर 20 शब्द बोलता है तो उसमें दो -चार शब्द क्रिया के ही हिन्दी में होते हैं, बाकी हिन्दी का कोई शब्द नहीं है, जिनके जरिए वह समझा सके कि हुआ क्या है, क्योंकि मामला भूचाल जैसा है, जिसको लेकर हिन्दी के पास शब्दों की कोई कमी नहीं है। मैं जी टी.वी. का समर्थन नहीं कर रहा हूं, जी टी.वी. की हिन्दी निश्चितरूप से एक बीमारी है, पर आप इस बीमारी से बचना चाहें तो ज्यादा टाइम नहीं लगेगा। आप कोई भी बस लें, सहारनपुर जाएंगे तो वह बीमारी दूर हो जाएगी। यह दिल्ली की बीमारी है और यह दुर्भाग्य है कि संचार की प्रौद्योगिकी दिल्ली में केन्द्रित है और वह दिल्ली से ही दुनिया पर शासन करती है, इसलिए इस प्रौद्योगिकी से तुरंत तो कोई उम्मीद नहीं लगती, लेकिन निश्चित रूप से जो हिन्दी 1930 में शिक्षा से अलग हुई थी, उसको सिनेमा ने बनाए रखा है और उस नाते मुझे लगता है कि सिनेमा की जो छोटीवाली ज्यादा समृद्ध नई बहन आई है, वह भी हिन्दी को उसी रूप में सुरक्षित रख सकेगी, उसका पल्लवन कर सकेगी, जिस तरह से सिनेमा ने किया और शायद आज से 20-30 वर्ष बाद निदेशालय बंद हो जाएगा। राजभाषा समितियां बंद हो जाएंगी। ऐसी स्थिति में हिन्दी के प्रकाशक फिर से पाठक को रूझाने की कोशिश करेंगे कि हिन्दी की किताब खरीदो। हिन्दी का लेखक फिर वही वाली रायल्टी पाएगा जो असली होती है जिसमें शायद सचमुच ही साल में दो प्रतियां आज बिकती हैं, यह किताब घर की बात है और मुझे दो ही की रायल्टी मिली है।

श्रोता: मैं कृष्ण कुमारजी से एक सवाल करना चाहूंगा कि जो देश अविष्कार न कर रहा हो, चाहे वह इंटरनेट हो, आई. टी. हो या कुछ हो, वह उसकी *शब्दावली* कहां से लाएगा, एक तो प्रश्न यह है। दूसरी बात यह है कि यह सही है कि अनुवाद ने भाषा के रूप को भ्रष्ट किया है, पर तब प्रश्न यह है कि क्या आम आदमी की भाषा और शास्त्रों की भाषा अलग होगी या नहीं होगी? उसके विभिन्न स्तर होंगे या नहीं होंगे? पंकजजी, मैं अनुवाद से कोई झगड़ा नहीं कर

रहा हूं, मैं कह रहा हूं कि अनुवाद के लिए जो एक सरकारी उद्योग था, देखिए एक शिक्षक के तौर पर, एक लेखक के तौर पर जब मुझे कोई कहने की बात होती है उसका मै जिस भाषा से भी अनुवाद करना चाहता हूं अपने साधनों से करता हूं और आपने छात्र तक पहुंचता हूं, लेकिन जो अनुवाद उद्योग था, मैं उसकी बात कर रहा हूं।

कृष्ण कुमार : जी हां, तो तीसरी बात यह है कि यह सही है कि अनुवाद लगातार हो रहा है। हर आदमी यह कह रहा है कि फिल्म ने, टेलीविजन ने जो भाषा दी है वही भाषा हिन्दी है। वह यह नहीं देख रहा है कि हिन्दी में और तरह का लेखन भी होना है या नहीं होना है। दूसरी बात यह है कि हिन्दी के मध्य वर्ग ने, जिसने इसे पढ़ा लिखा था, उसने कभी विरोध क्यों नहीं किया कि ये जो किताबें छप रही है, ये हमारे बच्चे कैसे समझेंगे। आज तक क्या एक भी आन्दोलन, या कोई विरोध किया गया। मैं सोचता हूं कि यह सवाल ज्यादा महत्वपूर्ण है।

श्रोता : एक सवाल और मध्य वर्ग और स्वर्ण वर्ग का योगदान यानी बुद्धिजीवी कहां है, उसका क्या योगदान है। पिछले 30 साल में आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी के 30 संस्करण प्रकाशित हुए है, जिसमें तमाम नए शब्दों को प्रकाशित किया गया है। हिन्दी मैं कौन सा शब्दकोष प्रकाशित हुआ है, जिसमें आपने उन शब्दों को चाहे वे ग्रामीण अंचल के हों या अंग्रेज़ी से लिए गए हों, जिस भी भाषा से लिए गए हों, जो आपको प्रामाणिक तौर पर अपने कहने लायक बना दिए गए हो, उस 'एलीट' का क्या स्वार्थ होगा, उसकी दृष्टि कहां है और मुझे लगता है कि पंकज जो बात कह रहे थे कि वह अंग्रेज़ी की रेलगाड़ी पर सवार होने की कोशिश में ज्यादा है, बजाए इसके कि वह हिन्दी को समृद्ध करें या हिन्दी को कहीं पहुंचाए, क्योंकि उसका हित हिन्दी के साथ उस तरह नहीं है, जिस तरह अंग्रेज़ी के साथ है।

कृष्ण कुमार : यह आप सही कह रहे हैं, रघुवीर सहाय ने जो हिन्दी पर अपनी दूसरी कविता लिखी थी, 80 दशक के उत्तरार्ध में, उसमें उन्होने बहुत अच्छे रूपक का उपयोग किया था कि हिन्दी का, हिन्दी के दलालों का अपने दास मालिकों से करार हो गया है, तो आप जिस वर्ग की बात कर रहे हैं यह वही वर्ग है, जिसने यह करार किया। हम सब उस वर्ग के सम्मानित सदस्य है, यह

कहने में मुझे आपत्ति नहीं है। अब प्रश्न यही उठता है कि हमारे हाथों सत्ता का ही खेल सम्भव था, हमारे हाथों से मेरा आशय है इस वर्ग के हाथों, सत्ता का ही खेल सम्भव था, क्योंकि हिन्दी को सीधे-सीधे से एक बनते हुए राज्य से जुड़ने का एक सौभाग्य या दुर्भाग्य मिल गया था। आज वैश्वीकरण के जरिए जन्मी हुई परिस्थिति में अब वह गठबंधन काम नहीं कर पा रहा है। इसलिए वह वाला जो स्वरूप था हिन्दी का, उसमें और अधिक विकास की...

श्रोता : एक सवाल मेरे दिमाग में भी चर्चा से उभरा है। आपने कहा कि सरकारी तंत्र से हिन्दी को मुक्त होना चाहिए, एक बात। आपका कहना है कि मध्य वर्ग हिन्दी छोड़ रहा है, अंग्रेज़ी की ओर दौड़ रहा है। निम्न वर्ग, निर्धन वर्ग साधनविहीन है, वह उच्च वर्ग की भाषा को मानने के लिए विवश है। फिर हिन्दी के लिए मूल अनुसंधान, विभिन्न विषयों का मूल लेखन कौन करेगा, कैसे करेगा?

कृष्ण कुमार : यह आप देख रहे है कि मूल लेखन नहीं हो रहा है।

श्रोता : यही सकंट है वैश्वीकरण के सन्दर्भ में हिन्दी के सामने और उस संकट को दूर करने के उपाय क्या होगें?

कृष्ण कुमार : यह संकट वैश्वीकरण के साथ नहीं है, यह उससे पहले से चल रहा था। नारायण दत्त ने 1987-88 में यह कोशिश की थी एक लेख में कि उन लोगों की गिनती गिनी जाए जो सामाजिक विज्ञान या ज्ञान के क्षेत्रों में सीधे हिन्दी में लिखते हैं। उनकी सूची करीब सात-आठ तक पहुंची थी, वे नवनीत और पी.टी.आई. के बहुत पहुंचे हुए सम्पादक थे उनका सम्बंध पूरे हिन्दी जगत के लेखकों से था। स्वाभाविक रूप से हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान, सामाजिक विज्ञान को समझा पाने की क्षमता उनके अनुसार 80 के दशक में भी 7-8 लोगों के पास रह गई थी, लेखन के तौर पर। तो वैश्वीकरण का जो नारा है, यह उसके बाद की घटना है। यह हिन्दी की अपने विकासक्रम की स्थिति है, जिसमें घटते-घटते हिन्दी का यह हाल हो चुका था। अब उसके आगे क्या निकलेगा क्या नहीं, यह विश्लेषण का विषय है और मैंने इसीलिए तमाम जो इसके आयाम हैं, इनको खोलने की कोशिश की है।

कृष्ण कुमार : आयाम तो खुल चुके हैं, आयाम स्पष्ट हैं, अब इसके उपाय क्या हो सकते हैं।

राजेन्द्र : देखिए मैं बहुत शुरू से महसूस करता रहा हूं कि हिन्दी एक छिन्नमूल भाषा है, यह हमारी भाषा नहीं है। इसे हमने अर्जित किया है। तीन भाषाएं कम-से-कम उत्तर भारत में ऐसी हैं, जिनका कोई भौगोलिक 'आधार' नहीं है। अंग्रेज़ी, उर्दू और हिन्दी इन तीन भाषाओं का आप कोई ऐसा क्षेत्र नहीं बता सकते सिवाए हिन्दी प्रदेश के जहां वे धारा प्रवाह ढंग से बोली जाती हो, उसकी कोई ऐसी जगह नहीं है। इसलिए अगर उसका नाश होता है, अगर अवनति होती है तो किसी को भीतर से चिंता महसूस नहीं होती, क्योंकि वह किसी की नहीं है। लेकिन अंग्रेज़ी भाषा उपयोगिता की भाषा है, सभ्यता की भाषा है, इसलिए यह बनी रहेगी और बनी हुई है।

दूसरा, हिन्दी एक सामान्य वार्तालाप की भाषा है, इसीलिए बनी रही। उर्दू की स्थिति थोड़ी संकट में है। हुआ क्या है कि हमने हिन्दी की प्रकृति ने या हिन्दी ने अपने जो 'नेचुरल ऐलाइज़' हैं, उनको नहीं समझा है। वह या तो अंग्रेज़ी से आतंकित रही या संस्कृत से आतंकित रही। हिन्दी के साथ बहुत गलत किस्म का नारा दिया गया। वह बहुत गलत इसलिए था क्योंकि वह हिन्दी को संस्कृत और संस्कृति तथाकथित धार्मिक संस्कृति की एक तरह कालोनी बनाता था। हिन्दी वहां से, यानी एक तरह से जब हिन्दी, हिन्दु, हिस्तुस्तान कहते हैं तो वह हिन्दी वह थी जो संस्कृत से शब्द लेती थी और उस संस्कृति को 'बॉरो' करती थी जो हमारी नहीं थी, जो एक मध्य वर्ग 'एलीट' की भाषा थी, सुवर्ण की भाषा थी। हिन्दी की 'नेचुरल ऐलाइज़' उर्दू हो सकती है, क्योंकि हम जिस व्याकरण, यानी जिस 'सिनटैक्स' में आज हम बोल रहे हैं वह मूलरूप से उर्दू का 'सिनटैक्स' है। उर्दू गद्य हमसे ज्यादा पुराना है, जब हम लड़खड़ाते हुए हिन्दी लिखना सीख रहे थे, लल्लू लाल, फल्लू लाल, इस तरह की जो चीजें लिख रहे थे, तब बाकायदा गालिब की डायरियां उस *सिलबरि* में लिखी हुई थीं और खूबसूरत हिन्दी, उर्दू में लिखी हुई थीं, वहां गद्य बहुत विकसित था। एक ही समय में लिखे हुए उमरावजान की भाषा आप देखिए और श्रीनिवास दास या इन लोगों के किसी उपन्यास की भाषा देखिए, वह ज्यादा सही है। खैर उर्दू गद्य का इतिहास तो बहुत पुराना है, सबरस मुल्लावजही का चार-पांच सौ साल पहले का गद्य है। तो हमारे पास बहुत बड़ा जखीरा, बहुत बड़ा कोष पहले से उर्दू का था और हमें उर्दू के साथ जुड़ना चाहिए था या फिर लोक भाषाओं के साथ जुड़ना चाहिए था जो हम आज भी नहीं कर रहे हैं। और शायद इसीलिए

एक लड़ाई चल रही है कि संस्कृत के शब्द कितने हों, अंग्रेज़ी के शब्द कितने हों और वैश्वीकरण में क्या हो। वैश्वीकरण और यह भाषा तो चलेगी। तो वह तो हिन्दी भाषा को लेकर नहीं होगा क्योंकि वह किसी की भाषा नहीं है। मेरा तो सोचना इस भाषा को लेकर यह है।

आलेख पाठ : रजत शर्मा

चर्चा

श्रोता : रजतजी, दूरदर्शन में 'आपकी अदालत' पहले आया था या 'जनवाणी'

रजत शर्मा : 'जनवाणी' पहले था, लेकिन उस समय मेरे घर में टी.वी. नहीं था, तो कभी मैंने वह कार्यक्रम देखा नहीं। मैं उस समय इतनी गरीबी की हालत में था कि टी.वी. घर में रखना संभव नहीं था।

श्रोता : तब आप हिन्दी में रहे होंगे?

रजत शर्मा : आपको सच बात बताऊं, उन दिनों *टाइम्स आफ इंडिया* की ट्रेनिंग चलती थी, जिसमें एच.पी., एम.जे. अकबर, उड्उयन, ये सब लोग थे। मैंने भी उसमें अप्लाई किया और लिखित टैस्ट दिया था। लिखित टैस्ट तो ठीक हो गया था, इन्टरव्यू में उन्होनें मुझे फेल कर दिया था। अगर वह मुझे पास कर देते तो शायद में बिल्कुल हिन्दी का पत्रकार बनता।

श्रोता : मैं आपसे एक सवाल पूछना चाह रहा हूं, आपने हिन्दी की प्रत्यक्ष समृद्धि की बात की, दूसरी ओर कृष्ण कुमारजी सुबह कह रहे थे, हम लोग भी महसूस करते हैं कि एक तरह का हिन्दी भाषा का संकट है या कम-से-कम हिन्दी क्षेत्र का संकट है, जिसका भाषा पर कुछ असर पड़ता होगा। तो यह जो प्रत्यक्ष समृद्धि है और जो आरोपित संकट है, इनमें क्या कोई सम्बंध है, क्योकि ये दोनों बातें मुझे सच लगती हैं।

रजत शर्मा : दोनों बातें सही हैं। यह तो नहीं है कि हर हिन्दी बोलने वाला, हर हिन्दी लिखने वाला, प्रोग्राम करने वाला एकदम समृद्ध है। मैं कह रहा हूं कि एक दिशा है, उस तरफ धीरे-धीरे बढ़ रहे हैं। आमतौर पर जो कस्बों में छोटे स्तर पर हिन्दी के पत्रकार हैं, उनकी हालत बहुत अच्छी नहीं है और वहां पर अंग्रेज़ी के अखबार है। जैसे तमिलनाडु में छोटे-छोटे तमिल के

अखबार हैं, वहां पत्रकारों की हालत कस्बाई स्तर पर अच्छी नहीं है। हिन्दी के साथ केवल यह बात नहीं है, हर स्थानीय स्तर की भाषा के साथ यह बात है और जब मौका मिलता है तो उसका कैसे दुरूपयोग होता है मैं आपको एक उदाहरण देता हूं। हम हिन्दी के लोग कहां पीछे रह जाते है। मध्य प्रदेश में जब अर्जुन सिंह मुख्य मंत्री थे, उन्होंने पत्रकारों के लिए बहुत सारी सुविधाओं की घोषणा की। जैसे अगर कोई अखबार निकालना चाहेगा तो प्रिंटिंग प्रेस लगाने के लिए उसको ऋण मिलेगा, उसको एक सरकारी घर मिलेगा। उनकी मंशा होगी कि एक तो हिन्दी अखबार का प्रचार प्रसार हो, दूसरा उनको लगता था कि ये सारे मेरे हाथ मे रहेंगे तो मेरे काम आएंगे। जो अखबार उस समय निकले, उनके अखबारों के नाम थे: *तू चल मैं आया, उड़ती धूल, नंगा सच, कड़वे लोग, तेरी मेरी दुनिया* जो मौका मिला, उसको ऐसे गवां दिया, जिसका कोई फायदा नहीं हुआ। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में मैं थोड़ा और ज्यादा अधिकार के साथ कह सकता हूं कि जब-जब लोगों को मौका मिला है हिन्दी वालों को, सुरेन्द्र प्रताप सिंह एक उसमें बहुत बड़ा नाम है, उन्होंने बहुत अच्छा किया है और उनको बहुत मान-सम्मान मिला। उसकी वजह यह नहीं है कि वे लोग हिन्दी वालों को सम्मान देना चाहते है, हमें कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उसकी वजह यह है कि विज्ञापन एजेंसी वाला कहता है कि यह प्रोग्राम चल रहा है, इसको विज्ञापन दो। हिन्दी से कोई प्रेम नहीं है। सात साल तक अंग्रेज़ी में 'स्टार प्लस' चलाने के बाद रूपर्ट मर्डोक को हिन्दी में प्रोग्राम करना पड़ा, करोड़ो रूपए खर्च करके, क्योकि हिन्दी बिकती है, व्यावसायिक है। हिन्दी 'कामर्शियलाइजेशन' की भाषा है। इसलिए चार साल पहले तक जो अंग्रेज़ी का न्यूज बुलेटिन होता था, उसके विज्ञापन का रेट ज्यादा था और हिन्दी वाले का कम था, अंग्रेजी का 10 सेकण्ड का एक लाख रूपए और हिन्दी वाले का 20 हजार रूपए। आज अंग्रेज़ी का जो 'न्यूज बुलेटिन' है, उसका विज्ञापन रेट कम हो गया है, हिन्दी के न्यूज बुलेटिन का विज्ञापन रेट ज्यादा हो गया है। यह हिन्दी का अपना सामर्थ्य है, हिन्दी के लोगों का लोकप्रिय बढ़ावा है, यह किसी का कोई अहसान नहीं है। उनको मजबूरी में करना पड़ रहा है, इसको मानना पड़ रहा है। मैं कह रहा हूं कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में जब हिन्दी चल पड़ी है तो बाकी जो माध्यम है, उनमें भी जरूर इसका कहीं न कहीं असर होगा। हम देखते हैं कि कम्प्यूटर में अब हिन्दी भाषा इस्तेमाल

की जा रही है, इंटरनेट में हिन्दी इस्तेमाल करने की कोशिश की जा रही है। इसका क्या मतलब है। इसका मतलतब साफ यह है कि हिन्दी जन स्वीकृति की भाषा है, लोग इसको स्वीकार करते हैं, लोग इसको मानते हैं, इसलिए हिन्दी की समृद्धि बढ़ रही है।

श्रोता : मैं पिछले दिनों तक *नवभारत टाइम्स* से जुड़ा हुआ था। बार-बार रजतजी यह कह रहे हैं कि हिन्दी कों इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने अपनाया, उससे समृद्धि बढ़ी है। मेरी समझ में यह बात इसलिए नहीं आई कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से कितने लोग जुड़े होंगे, सौ-दो सौ जी न्यूज, स्टार सब मिलकर हजार लोग होंगे। करोंड़ों की आबादी में अगर हिन्दी के हजार लोगों को, जो पत्रकार हैं, अधिक पैसा मिल रहा है तो उससे हिन्दी का क्या भला जबकि करोड़ों की आबादी है। विज्ञापन का रेट बढ़ गया है तो उससे पूंजीपतियों को फायदा हो रहा है वह हिन्दी के लिए क्या करेगा? हम देख रहे हैं कि बड़े-बड़े प्रतिष्ठान जो हिन्दी की पत्रिकाएं निकालते थे, सब पत्रिकाएं बंद हो गई चाहे *धर्मयुग* हो या *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* हो। हिन्दी का प्रसार बढ़ा है यह तो सही है, लेकिन समृद्धि तो जुड़ी हुई नहीं लग रहीं।

रजत शर्मा : आप बात कर रहे हैं उन पन्द्रह सौ-दो हजार लोगों की जो हिन्दी के ऐसे प्रतिष्ठानों मे काम कर रहे हैं, मैं उनकी समृद्धि की बात ही कहां कर रहा हूं, मैं तो उन पन्द्रह-बीस करोड़ लोगों की बात कर रहा हूं जो लोग उनको देख रहे हैं, उनकी समृद्धि की चिंता है। बौद्धिक विकास हो रहा है, वह समृद्धि ज्यादा जरूरी है, यह हजार-बारह सौ लोगों की समृद्धि ज्यादा जरूरी नहीं है। मैं जब समृद्धि की बात करता हूं तो पहुंच की बात करता हूं। यानी, हिन्दी भाषा में कार्यक्रम कितने लोगों तक पहुंच रहे हैं और सिर्फ अपने देश में अपने लोगों तक नहीं, पाकिस्तान मिडिल ईस्ट, अमेरिका और ब्रिटेन आदि में, जहां-जहां हिन्दी बोलने वाले लोग हैं, उन तक यह बात पहुंच रही है। यह हो सकता है कि सब लोगों को उसमें जगह न मिली हो और यह तो खैर बिलकुल गलतफहमी है कि अगर किसी को अखबार में पांच हजार मिलते हैं तो इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में पच्चीस हजार मिलते हैं, पांच हजार से ज्यादा से ज्यादा सात हजार मिलेंगे, इससे ज्यादा कोई बड़ा समृद्ध, पैसा देने वाला नहीं है। जब मैंने विज्ञापन का जिक्र किया, जाहिर है जो चैनल चलाते है, उनको इसका फायदा है, लेकिन सवाल यह है कि उनको मजबूर होकर हिन्दी के कार्यक्रम

चलाने पड़ रहे हैं। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि वह कोई अहसान कर रहे हैं। उनके लिए यह 'कमर्शियल कंपल्शन' हो गया है, इसलिए चला रहे है और उससे यह हो रहा है कि हिन्दी जानने समझने वाले करोड़ों लोगों के बीच हिन्दी की बात हिन्दी में पहुंच रही है, इतना भाषा का भला जरूर हुआ है। मै भाषा की स्मृद्धि की बात कर रहा हूं, कुछ लोगों की स्मृद्धि की नहीं।

श्रोता : मैं रजतजी से एक बात से सहमत हूं कि फिल्मी दुनिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से हिन्दी में रूची जरूर बढ़ी है, पर इस बात से टोटली असहमत हूं कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में जिस तरह से संगठन होते हैं, जैसे लोगों को बुलाया जाता है, जो विचार देते है, उससे भी जनता का एक बौद्धिक विकास होता है। हॉं, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से जब आदमी बात करता है, अपने आपको जिस तरह से पेश करता है उससे उसकी लोकप्रियता बढ़ती है।

श्रोता : कुछ मापदंड, प्रिंट मिडिया के द्वारा अच्छे-अच्छे लेखकों को भी कोई नहीं पहचानता लेकिन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में होने के कारण एक दिन में पता लग जाता है कि रजत शर्मा कौन है, मै अंग्रेज़ी छोड़कर 25 साल से हिन्दी में लिख रहा हूं, सब दोस्त कह रहे हैं कि हिन्दी में क्यों लिख रहे हो, कौन पढ़ेगा, तुम्हारी कोई किताब दुनिया में कहीं जाएगी नहीं, यहीं पर रह जाएगी 50 लोगों में। इसलिए आपको सोचना पड़ेगा। आपके फील्ड में बेशक समृद्धि हो रही हो, उससे बौद्धिक विकास नहीं हो रहा है, पर 'रीच' बढ़ रही है, ठीक है, उसका भी प्रभाव पड़ेगा कभी-न-कभी। हिन्दी कमर्शियल फिल्मों में हमारे बड़े-बड़े दोस्त काम करते हैं, कहते हैं कि हिन्दी सिनेमा से सबसे ज्यादा हिन्दी को मदद हुई है, पर बौद्धिक विकास हुआ है या नहीं, मैं नहीं कह सकता। सिनेमा से भी बहुत लोकप्रियता हो जाती है एक मिनट में, चाहे वह किसी भी भाषा में हो, लेकिन उससे बौद्धिक विकास नहीं होता।

रजत शर्मा : मैं आपसे दो चीजें कहना चाहता हूं, बड़ी विनम्रता से। एक तो यह कि जब आपसे पूछते हैं कि आप हिन्दी में क्यों लिखते हैं, जब मैं हिन्दी में लिखता था तब मुझसे से भी पूछते थे कि हिन्दी में क्यों लिखते हो, सच्चाई यह है, लेकिन जो आपने बात कही कि टेलीविजन के प्रोग्राम में इंटेलेक्ट की कमी होती है, मैं आपसे शत-प्रतिशत सहमत हूं। जिस विषय पर मैं बात कर रहा था वह विषय था इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में हिन्दी। अगर आप मुझसे सिर्फ

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में बात करने को कहते तो जो आप बात कह रहे हैं, कमोबेश मैं भी यही कहता। जो *इलेक्ट्रॉनिक मीडिया* पर जिस तरह की चर्चाएं होती हैं, जिस तरह से विचार होत हैं, उसमें 'डैप्थ' नहीं है, मैं मानता हूं उनसे समाज का बहुत बौद्धिक विकास नहीं होता, यह भी ठीक बात है। क्योंकि चौबीस घंटे के चैनल चलाने हैं, प्रोग्राम भरना है। किसी को भी बुलाकर कैसा भी एक्सपर्ट बनाकर बिठा देते हैं। हमारे पास, उदाहरण है कांधार में प्लेन हाईजेकिंग हुई। तीन घंटे तो एक डाक्टर बैठकर यह डिसकस करते रहे कि जो प्लेन में यात्री बैठे हैं उनके हार्ट की कंडिशन क्या होगी। आगरा में शीर्ष वार्ता हुई, न तो वार्ता करने वाले कुछ बता रहे थे और न ही वार्ता में भाग लेने वाले कुछ बता रहे थे, लेकिन 24 घंटे तक 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' पर यह बताया जा रहा था कि अंदर क्या 'डिसकशन' हुई और अगर यह 'डिसकशन' नहीं हुई तो क्यों नहीं हुई और अगर 'डिसकशन' होती तो क्या हो सकता था और मैं आपको बताना चाहता हूं कि जैसे आपने इस बात को पहचाना है, इन 'डिसकशन' मे, इस तरह के 'न्यूज प्रोग्राम्स' में *डैप्थ* नहीं हैं, उससे लोगों का बौद्धिक विकास नहीं होता है, इसको देश के करोड़ों दर्शाकों ने पहचाना है, लोगों की नाराजगी है और यह नाराजगी हम तक पहुंचती है। लोग इस बात को मानते हैं कि चाहे कोई भी चैनल हों, चाहे वह *स्टार* हो, चाहे *जी* हो, चाहे दूरदर्शन हो, जो भी चैनल हो, उनमें समय भरने के लिए जो प्रोग्राम लगा रहे हैं दर्शक साफ समझ जाता है यह आदमी 'एक्सपर्ट' नहीं है, क्योंकि 'एक्सपर्ट' अगर आप बुलाना चाहते हैं तो वह सिर्फ रात को 9 से 10 के बीच में आएगा, सब 'एक्सपर्ट' जान गये कि 'प्राइम टाइम' कौन सा होता है, लोग कब देखते हैं। छः बजे कोई 'एक्सपर्ट' आने को तैयार नहीं है, लेकिन आपको प्रोग्राम तो बनाना है, कुछ तो दिखाना है। अब आपके जैसे लोग छः बजे का प्रोग्राम देख लेते हैं और नाराज हो जाते हैं।

श्रोता : मेरा प्रश्न यह हैं कि *इलेक्ट्रॉनिक मीडिया* में आप लोगों की हिन्दी थोड़ी क्लिष्ट है, इतनी सुलभ नहीं है। मेरे ख्याल से आपकी बात ठीक से पहुंचती नहीं है, लोगों को समझ में नहीं आती हैं। जहां तक मेरा अपना अनुभव है। आपने अस्मिता शब्द का यहां पर इस्तेमाल किया, तो वह मेरी समझ में नहीं आया।

रजत शर्मा : आपकी कृपा है कि आपने कहा कि क्लिष्ट भाषा का इस्तेमाल

कर रहे हैं, भ्रष्ट भाषा का इस्तेमाल नहीं कर रहे। आमतौर पर तो लोग कहते हैं कि आपने भाषा को भ्रष्ट कर दिया है। अस्मिता शब्द का इस्तेमाल मैंने यहां किया है क्योंकि यहां पढ़े-लिखे लोग बैठे हैं। अगर मैं प्रोग्राम कर रहा होता तो मैं अस्मिता शब्द का इस्तेमाल कभी नहीं करूंगा। कम-से-कम अपने सारे लोग इस तरह की भाषा का इस्तेमाल करते हैं जो कस्बा और टाऊन में रहने वाले लोंगों को समझ नहीं आती, लेकिन धीरे-धीरे यह ठीक हो रहा है। कस्बों से 'फीड बैक' आता है तो उस 'फीड बैक' के बाद में उसको सुधारना पड़ता है। मैं अपने बारे में तो कह सकता हूं कि मैं कोशिश करता हूं कि इस्तेमाल न करूं। कभी-कभी गलतियां होती हैं, जब कोई टोकता हैं तो उसको सुधारने की भी कोशिश करते हैं।

आजकल गांव-गांव में ज्यादातर सब लोंगों के पास टेलीविज़न हैं, अंग्रेज़ी के मुकाबले में हिन्दी के कार्यक्रम ज्यादा लोगों तक पहुंचते हैं, ज्यादा लोग उनको देखते हैं, ज्यादा लोग उसको समझ पाते हैं, इसीलिए बार-बार मेरा सब लोगों से निवेदन यह होता हैं, कोशिश यह होती है कि ऐसी भाषा हो जो समझ में आये। इस देश की बड़ी भारी समस्या है 'पापूलेशन कंट्रोल' की, इससे संबन्धित जितने विज्ञापन हैं, वे अंग्रेज़ी में बनते है। अगर वह भारतीय भाषाओं में बनें तो उन लोगों तक पहुंच सकेंगे जिनके लिये वह प्रोग्राम है। अंग्रेज़ी वाले को तो पता ही है कि परिवार नियोजन का क्या महत्व होता है। हिन्दी में जब बने तो उसमें परिवार नियोजन शब्द का इस्तेमाल न करके ऐसे शब्दों का इस्तेमाल करें जो सबकी समझ में आए, "रीच" से मेरा यह मतलब है। आम भाषा बनाते-बनाते भी जैसे आपने कहा 'एक्स्ट्रीम' हो जाती है। *शाहनवाज हुसैन* जब मिनिस्टर बने और उनको पहला मंत्रालय फूड प्रोसेसिंग का दिया गया, वे एक दिन आए और बोले देखिए, मेरा मुसलमानों के बीच मजाक उड़ रहा है। मैंने पूछा, क्यों, मजाक उड़ रहा है, तो बोले जितने उर्दू अखबार हैं, मुसलमान वही ज्यादा पढ़ते है। उसमें मेरे लिये लिखा जाता है, वजीर, डिब्बा बंद खुराक। सिविल एविएशन मिनिस्टर के बारे में लिखते हैं वजीर, उड़न खटोला। वे लोग भी एकदम 'एक्स्ट्रीम' में चले जाते है। बीच में कहीं-न-कहीं समझौता करना पड़ेगा और हमको यह तय करना पड़ेगा। जैसी मैंने शुरू में बात कही थी कि हमको नया चर्च बनाना है तो उसमें बुर्ज और गुम्बद अब पुराने नहीं लगाने पड़ेगे, नए बनाने पड़ेगें, लेकिन वह सहज हो, यह ध्यान

रखना पड़ेगा।

श्रोता : कादिर खान को आप भूल गए, उन पर अपना पांच मिनट जरूर खराब करें कि कादिर खान जो हिन्दी दे रहे हैं, क्या उस हिन्दी को लेकर चलना है हम लोगों को?

रजत शर्मा : बात यह है कि यह आप और मैं नहीं तय कर सकते, यह लोग तय करेंगे। अगर लोग उस हिन्दी को देख रहें हैं तो हम क्या कर सकते है, हम तो बिलकुल मजबूर हैं। हम जो प्रोग्राम कर रहे है, अगर उस भाषा में कमी है, वह भाषा भ्रष्ट है तो आप जरूर कहिए। कादिर खान जो भाषा इस्तेमाल कर रहे हैं, उसके लिए तो हम किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते, वह उनका तरीका है।

श्रोता: आप सीट पर बैठ हुए हैं।

रजत शर्मा : नहीं, सीट पर नहीं हूं, लोग दो मिनट में नीचे उतार देते हैं। सीट पर बैठे हुए वे हजारों, लाखों, करोड़ो लोग हैं जो प्रोग्राम देखकर हमारा भाग्य तय करते हैं। बड़े-बड़े फिल्म स्टार होते हैं, सुपर स्टार होते हैं, एक फिल्म फ्लाप हो जाती है, नीचे जमीन पर आ जाते है, 'वैल्यू' एक करोड़ से एक लाख पर आ जाती है। हमारा हिन्दी प्रोग्राम देखने वाला दर्शक कब क्या तय कर लेगा, कुछ पता नहीं, उससे बहुत डर लगता है। इसीलिए मैं कभी नहीं मानता हूं कि कोई सीट पर है।

श्रोता : मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है और न मैं लिख-पढ़ सकता हूं, लेकिन बोल सकता हूं। मैं एक छोटी सी टिप्पणी दूंगा। जो रजतजी ने बोला है, मैं उससे बिलकुल सहमत हूं कि हिन्दी का विस्तार सूचना क्रांति और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के माध्यम से बहुत ज्यादा हुआ है। मैं उड़ीसा की ही बात करूंगा, कई शब्द जो 10-20 साल पहले हमारी भाषा में नहीं होते थे, आज 'डामिनेट' कर रहे हैं जैसे जी टी.वी. का प्रोग्राम शुरू हुआ, आज की अदालत, तो उसने लोगों की वहां पर जो भाषा है, उसको बहुत प्रभावित किया है, जैसे सांसद, सांसद शब्द का प्रयोग रजतजी ने बहुत किया है, मैं कभी-कभी वहां पर जाकर देखता हूं तो लोग सांसद शब्द का प्रयोग करते हैं, पहले कोई सांसद शब्द का व्यवहार नहीं करता था, अंग्रेज़ी का ट्रांसलेशन था, लोकसभा सदस्य और राज्यसभा सदस्य, यह दोनों शब्द समाचार पत्रों में लिखे जाते थे। लेकिन आज मैं देखता

हूं जितने जरनलिस्ट हैं, वे भी इसका इस्तेमाल कर रहे हैं तो जनमानस में इसकी जो 'रीच' हैं, बहुत ज्यादा है। मेरे ख्याल से एक और सेमीनार करना चाहिए जिसमें प्रान्तीय भाषाओं के ऊपर हिन्दी का आक्रमण क्या हुआ है इस पर चर्चा होनी चाहिए। आप हिन्दी पर अंग्रेज़ी के आक्रमण की बात कह रहे हैं परन्तु प्रान्तीय भाषाओं की 'डिसप्लेसमैंट' भी हो रही है बल्कि इसके लिए मेरी रजतजी से शिकायत है कि इस तरह के प्रोग्रामों से हमारी भाषा के ऊपर भी हिन्दी बहुत हावी हो रही है। तो यह सिर्फ अस्तित्व का सवाल नहीं है। हिन्दी भाषी लोगों ने एक तरह से सोचा कि यह हमारी 'मानापलि' है, हम इस तरह की भाषा का इस्तेमाल करेंगे, इसी तरह की भाषा हम चलाएंगे। 'रीच' इसकी बहुत है और इसलिए मैं बिलकुल इससे सहमत हूं कि हिन्दी को कोई खतरा नहीं है, कम-से-कम देश में तो हर प्रदेश में दक्षिण को छोड़कर, इसका विस्तार बढ़ रहा है, इसलिए यह बढ़ेगा, घटेगा नहीं और हमको यह सोचना पड़ेगा कि हमारी जो प्रांतीय भाषा है, उसको हम हिन्दी अंग्रेज़ी दोनों के आक्रमण से कैसे बचाएं।

रजत शर्मा : मुझे कुछ कहना नहीं है, आपका आभारी हूं मुझे छोटी सी एक घटना याद आ रही है। चार साल पहले की बात है, कुछ पत्रकारों को पाकिस्तान बुलाया था, निखिल चक्रवर्ती उस डेलिगेशन के लीडर थे, कुलदीप नैयर भी उसमें थे जिनका लिखा हुआ पढ़-पढ़कर हमने सीखा है, जिसको कहें कि उंगली पकड़ कर हमने चलना सीखा है और मैं उन दिनों जी.टी.वी. में था। लाहौर में जब हम लोग उतरे तो सबसे आगे निखिल दादा चल रहे थे, उसके बाद कुलदीपजी थे, उनके पीछे मैं था। तो जो सामान उठाने वाले कुली थे उन्होने देखा तो बोले अरे, शर्मा साहब, आओ जी महाराज, तो कुलदीप ने मुझे पीछे देखा तो उसके बाद उनको ख्याल नहीं आया कि यह क्या हुआ, फिर उन्होने कहा, नहीं, जी आप हमारे साथ आओ, कुली मुझे ले गए और फिर जो कस्टम वाले 10-12 लोग थे, उन्होने कहा, जी, आप तो अलग रूक जाइए। मैने पूछा, क्या हुआ, नहीं साहब, आप यहां बैठिए, तो मैंने कहा, बाकी मेरे साथ बहुत लोग हैं, उनको कहने लगे, नहीं-नहीं, उनको हम रोक लेंगे उन्होनें मुझे कमरे में अकेले 10-15 मिनट बिठाए रखा मन में थोड़ी घबराहट भी थी कि क्या करेगे, क्या चाहते है। बाद में पता चला कि उनके सब लोगों के घर हवाई अड्डे के आस पास थे। वहां से अपने परिवार वालों को

बुला रहे थे, ताकि मेरे साथ बैठकर फोटो खिचवा सकें। जब बाहर आए तो कुलदीप ने मुझे कहा कि कमाल है, मैं 40 साल से पत्रकारिता कर रहा हूं, मुझे कोई नहीं पहचानता, उस समय मेरे मन में सिर्फ यह बात आई कि "रीच" कहां से कहां तक है। यह नहीं कि उनके काम का कोई सम्मान कम हो गया और मैं कहूंगा उन दोनों का बहुत बड़प्पन था, उन्होने 'थ्रू आउट दि ट्रिप' इस बात को बार-बार लोगों से कहा कि देखिए 'रीच' से कितना असर पड़ता है और यह हमारे देश का कितना बड़ा सम्मान है कि पाकिस्तान में भी लोग हमारे लोगों का सम्मान करते हैं।

आलेख : मधुकर उपाध्याय

चर्चा

श्रोता : आपने कुछ आंकड़े दिए हैं कि शायद पांच प्रतिशत जो आबादी है, वह इन्हीं भाषाओं को बोलती है। मैं जानना चाहता हूं कि आप भाषाओं की बात कर रहे हैं या बोलियों की बात कर रहे हैं। अगर बोलियों की बात कर रहे हैं तो वे बोलियां अवश्य किसी बड़ी भाषा का हिस्सा होंगी, तो वे भाषाएं कौन सी हैं, अगर बता सकें।

मधुकर उपाध्याय : केनबरा यूनीवर्सिटी की पूरी सूची प्रकाशित है और मैंने इंटरनेट से डाउनलोड की थी।

श्रोता : मुझे लगता है कि बोलियों को भाषा का पर्याय मान लिया गया है। सवेरे यादवजी ने भी कहा था, आपका इशारा भी उसी तरफ था कि अवधी, ब्रज, मैथली, राजस्थानी ये भाषाएं सम्पन्न थीं और इनमें अच्छा साहित्य लिखा गया है, बाद में इनको छोड़कर कृत्रिम भाषा की गई जो कि मानक भाषा का रूप लेकर आज खड़ी बोली के रूप में पढाई जा रही है। इन सारी बातों को सुनकर मेरा प्रश्न है कि क्या इस देश में किसी ऐसी भाषा का आप हिस्सा नहीं हैं, जो सभी भाषाओं के शब्दों को लेकर चले। सभी भाषाओं के बीच में सम्पर्क भाषा के रूप में इस्तेमाल हो। क्या वह भाषा खड़ी बोली हो सकती है या अवधी, ब्रज, राजस्थानी या मैथली।

मधुकर उपाध्याय : मैं इस सवाल का जवाब नहीं देता। मैं एक और सवाल कर देता हूं मुझे आप यह बताएं कि रामचरित मानस इस देश के किस-किस

हिस्से में पढ़ी और समझी जाती है?

श्रोता : पूरे देश में।

मधुकर उपाध्याय : तो हिन्दी किस-किस हिस्से में पढ़ी और समझी जाती है। यही मेरा जवाब है।

श्रोता : अगर उससे साहित्य के....

मधुकर उपाध्याय : आप कह रहे हैं कि भाषा और बोलियां अलग-अलग कर दीजिए।

श्रोता : रामचरित मानस जैसी कृति के पीछे बहुत सारे कारण हैं, जिसकी वजह से वह पूरे देश में समझी जाती है, विदेशों में भी समझी जाती है। क्या ब्रज भाषा या अवधी विज्ञान की सूचना क्रांति की या कम्प्यूटर की भाषा हो सकती है, क्या उसमें रसायन विज्ञान का कोई साहित्य है, क्या उसमें भौतिक विज्ञान है, क्या उसमें विमानन भाषा है, क्या उसमें आज की वित्त बाज़ार की चीजें लिखी गई हैं और नहीं लिखी गई हैं तो स्वयं स्पष्ट है कि वह भाषा केवल बोलचाल की भाषा अथवा साहित्यिक भाषा है। भाषा साहित्यिक विषयों से हटकर दूसरे विषयों की भाषा कब बनेगी, यह भी तो एक आवश्यक प्रश्न है।

राजेश्वर गंगवार : इसी से जुड़े हुए मेरे भी दो प्रश्न हैं, एक तो समझिए कि मैं अपनी जाति बनिए के प्रति थोड़ा तो कमजोर हूं, आपको सुनकर ऐसा लगा कि जो सारा दोष है भाषाओं के विकास और बोलियों के विकास का, वह बाज़ार पर है। मैं यह समझता हूं कि बाज़ार तो एक 'यूनिफाइंग फैक्टर' है। अगर विकास का कोई 'इंडिकेटर' है तो बाज़ार है और बाज़ार जो है अगर भाषाओं को एक साथ कर देता है तो उसमें बुरा क्या है और मैं यह सोचता हूं जो गंगवारजी के प्रश्न से जुड़ा है अगर हमारे पास मान लिजिए 7,000 भाषाएं हैं, 7,000 भाषाओं के विकास में कितना प्रयास और कितना 'टेलेंट' जाएगा और अगर वही सारा विकास और सारा 'टेलेंट' एक भाषा के विकास में होता तो सोचिए कि कितना बड़ा काम हो गया होता। मान लीजिए कि अवधी में जो 'टेलेंट' है भोजपुरी में जो 'टेलेंट' है, अगर वह सारा 'टेलेंट' एक ही भाषा के विकास में रचा जाता, तो हिन्दी या और किसी भाषा की क्या स्थिति रहती, तो इसको देख कर मैं यह पूछना चाहता हूं कि क्या अच्छा नहीं हो कि सारा प्रयास एक भाषा के विकास के लिए हो? आखिरी जो बात दिमाग में आ रही

है कि आपने अंग्रेजों के षडयंत्र की बात कही कि उन्होने भाषाओं और बोलियों को मारकर एक भाषा के विकास पर जोर दिया और जिसके माध्यम से वे सारे देश को नियंत्रित करते थे। मुझे कम-से-कम ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है, अगर ऐसा कुछ 'आरकाइवल सोर्स' हो या कोई लेख हो तो मैं जानना चाहूंगा।

मधुकर उपाध्याय : आपका जो यह प्रश्न है मै चाहूं भी तो उससे सहमत नहीं हो पाउंगा कि एक ही भाषा अगर होती और सारा देश सिर्फ उसी को बरत रहा होता और उसी के लिए प्रयास रत होता तो क्या हो जाता? यह तो बिलकुल 'मैक्डॉनल्ड्स' जैसी सोच है कि एक ही तरह का बर्गर बनाएंगे और उस पर 72 तिल के दाने रहेंगे, वह चाहे जहां खरीद लीजिए, चाहे जैसे खा लीजिए, उसका एक ही स्वाद होगा। पूरे आलेख में लगातार मैं यह कह रहा था कि इस देश का हर आदमी 'यूनीक' है। उसको पीट-पीटकर आपने ढांचे में ढला हुआ एक आदमी बना दिया। उसके कपड़े बदल दिए, उसकी भाषा बदल दी, उसकी बोली बदल दी, उसका सब कुछ बदल दिया। जहां तक आपका दूसरा प्रश्न है आप षड्यंत्र साबित नहीं कर सकते कागज में शायद आपको कहीं कुछ नहीं मिलेगा लेकिन जिसको राजेन्द्र यादवजी लल्लू, फल्लू लाल कह रहे थे, *सगल मिश्र*, लल्लू लाल और *इंशा अल्ला खां*, इनके प्रयास देखिए और उस समय की प्राकाशित किताबें देखिए। मैंने एक किताब देखी है, हिन्दी में छपी हुई 1846 की, हिन्दी भारत का इतिहास, उस पूरी 350 पन्ने की किताब में एक शब्द उर्दू का नहीं है, जहां सहज स्वीकार्य शब्द आपको मिल सकते थे, वहां भी संस्कृत से उठाया हुआ कोई और शब्द है। वह किताब एक अंग्रेज ने लिखी थी और उसका अनुवाद हुआ, जिसको तरजुमा कहते हैं, तो किसी को कोई परेशानी नहीं होती। अनुवाद कहने में होती है। उस समय की बोली में एक नया शब्द इस्तेमाल होता था जो कुछ लोगों के लिए नया नहीं होगा।

उन्होने कहा कि इसका 'उलथा' फलां साहब ने किया। मैं एक और उदाहरण देता हूं, एक एलिअट साहब हुआ करते थे, मैं महोबा में था और मैं वहां आल्हा पर काम कर रहा था। वहां ढूंढते हुए एक किताब मुझे मिली, जिसमें यह साफ-साफ लिखा हुआ है कि असली आल्हा वोय जो एलिअट साहब दीन लिखवाए। उस समय जितने आल्हा गाने वाले थे, उनको यह लगा कि यह बहुत ही लिविगं, लाइवली ट्रेडिशन है, यह एक ऐसी जीवन्त परम्परा है,

जिसको सुनकर लोग तलवार लेकर खड़े हो जाते हैं। पहला आल्हा जब लिखा गया होगा उस समय तलवारें और ढालें रहीं होंगी, बाद में तोपें आ गई, तो समाज में जो चीजें आ रही थीं वो रिफ्लेक्ट हो रही थीं, आल्हा में। एलिअट को यह बात कतयी पसंद नहीं आई। इसका भी कोई प्रमाण आप नहीं ला सकते सिवाए इसके कि एलिअट ने अपने घर में आल्हा गाने वालों को बुलाकर बिठाया उनसे आल्हा सुना, मुंशी बिठाए, उनसे कहा कि तुम यह पूरा आल्हा लिख लो, फिर उसने वह पूरा आल्हा रिकार्ड पर लिखकर उसका अंग्रेज़ी अनुवाद किया, उसको इंग्लैड भेज दिया और कहा कि यह जो आल्हा रिकार्ड हो गया है, लिख लिया गया है, यह असली आल्हा है, इसके अलावा अब और कोई कुछ नहीं गाएगा। तो आप आल्हा सुनिए तो उससे पहले दो लाइन आपको यह सुनने को मिलती हैं कि असली आल्हा वोय जो एलिअट साहब दीन लिखवाए। एलिअट साहब ने अपनी ओर से तो आल्हा को बना दिया, लेकिन किया क्या। मानसिकता उसके पीछे कहां थी।

श्रोता : भाषा और विविधता पर यहां प्रश्न नहीं है, हमारा प्रश्न है कि पूरे देश में उच्च शिक्षा के माध्यम से रूप में, भाषा सूचना क्रांति के वाहक के रूप में क्या एक भाषा नहीं चाहिए क्योंकि सारी भाषाओं में यह कार्य नहीं कर सकते, सारी भाषाएं इतनी सम्पन्न नहीं है, सारी भाषाओं में इतने साधन हो भी नहीं सकते और न ही सारी भाषाओं में इतनी क्षमता है तो एक क्षेत्र विशेष में बोली जाने वाली भाषा, क्या किसी भी विषय की उच्च अध्ययन और अनुसंधान की भाषा नहीं बन सकती। हमारे पास वर्तमान में साधन हैं, एक भाषा जो काफी सम्पन्न हो चुकी है, उसे ही सम्पर्क भाषा के रूप में सम्पूर्ण देश में बढ़ावा देना चाहिए। बाकी भाषाएं अपने-अपने क्षेत्र में इस्तेमाल होती रहें, लेकिन सम्पर्क भाषा के रूप में खड़ी बोली ही एक रूप ले रही है और काफी आगे बढ़ चुकी है।

श्रोता: इसी से जुड़ा हुआ एक और प्रश्न है कि आपके पास 700 अविकसित भाषाएं हैं, क्या यह स्थिति अच्छी है या एक विकसित भाषा, कौन सी स्थिति आप अच्छी मानते है। आप जो मैक्डॉनाल्ड्स की बात कर रहे हैं कि विविधता मारी जाएगी, तो उस पर आपसे प्रश्न कर रहा हूं। गंगवारजी ने कहा कि सारी भाषाएं तो समृद्ध नहीं हो सकती। जैसे अभी माना अगर हम 13 भाषाएं विकसित नहीं कर सकें तो क्या यह अच्छा नहीं होगा कि वह 'टैलेंट'

एक सम्पर्क भाषा को विकसित करने में लगाएं जिसमें न केवल साहित्य रचा जाए बल्कि ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, जो भी आधुनिक ज्ञान हो, उसमें समाहित हो।

मधुकर उपाध्याय : नहीं, इसमें किसी को कोई आपत्ति क्यों हो सकती है कि एक विकसित क्षेत्र, जिसमें आपने कोई काम नहीं किया है, जिसके लिए आपको शब्द उधार लेने ही हैं तो आप बड़ी उदारता से उधार ले लीजिए और जोड़कर एक नई भाषा गठित कर लीजिए, बना लीजिए, जिससे आपका काम चल जाए। वह हिन्दी भी हो सकती है, और कोई भी भाषा दूसरी हो सकती है। लेकिन भाषा को सिर्फ शिक्षा और सूचना का माध्यम मान लेना, मेरा ख्याल है उचित नहीं होगा। इसके साथ संस्कृतियां है, संस्कार हैं, इसके साथ और बहुत कुछ जुड़ा हुआ है और आप इतना कुछ खोऐंगे इस एक भाषा को हासिल करने के प्रयास में, इसकी कल्पना करना कोई बहुत मुश्किल काम नहीं है।

श्रोता : बाज़ार और भाषा के बारे में जो नींव की बात की गई, क्योंकि हम पिछले 150 साल के गैप की बात कर रहे है, उससे पहले एक माहौल सा बना दिया गया भाषा को थोपने के लिए कितना बड़ा वायलेंस हुआ, अमेरिका में कोलम्बस के बाद अठारहवीं शताब्दी में दस करोड़ लोग मारे गए, सारे-के-सारे यूरोप के लोग कनाडा से लेकर चिली तक बस गए। वहां पर तीन-तीन, चार-चार गांवों की एक भाषा होती थी। सारे लोगों को मार दिया, उनका धर्म मार दिया, उनकी संस्कृति मार दी, भाषा मार दी, कुछ भी नहीं रहा। 18 वीं शताब्दी तक वहां पर जो ओरजिनल इंडिजिनस पापूलेशन थी, वे करीब 10 करोड़ लोग मार दिए गए। यदि उन सभी के पास भाषा होतीं तो वह विविधता हमारे सामने होती, उस विविधता के माहौल में आज संसार नए तरीके से सम्पर्क कर रहा होता। तो यह हम जो प्रश्न पूछ रहे हैं कि बाज़ार से एक भाषा से एक सम्पर्क से ही हम दीक्षित हो सकते हैं यह हम माहौल को स्वीकार कर रहे है, किसी की सत्ता को स्वीकार कर रहे हैं। भाषा को थोपने के लिए भाषा के साथ-साथ और चीजों को थोपने के लिए, अपना मुनाफा कमाने के लिए, क्या संघर्ष हुआ है? यूरोप अमीर क्यों है, इसलिए अमीर नहीं कि बड़े बुद्धिमान हैं बल्कि दूसरे की जमीन को हथिया कर, उनको मार कर, अमीर बनानें हैं। ऐसे तो कोई भी अमीर हो सकता है। इन सारे तथ्यों को हमें देखना पड़ेगा कि 500 साल का जो 'वायलेंस' है, उस 'वायलेंस' के साथ-साथ

बहुत सारी चीजें थोपी गई हैं, भाषा तो बहुत छोटी सी चीज है। हत्याएं तो लोगों की हुई है, कौन जानता है हमारी सभ्यता क्या है। खुद अंग्रेजों ने हटा दिया, अमेरिकन अंग्रेजी चलती है। माइट इज़ राइट को क्या, भाषा के क्षेत्र में हम 'सपोर्ट' करेंगे। अहम सवाल यह है।

श्रोता : मैं दो तीन बातें कहना चाहता हूं। अभी मैं दो नींबू सलाद के साथ खा गया, मेरे दांतों को कुछ हो गया है। क्या उपाध्यायजी और केजरीवाल यह साफ-साफ बता सकते हैं कि मेरे दांतों को क्या हुआ होगा, नम्बर एक। अभी हम पपीता खरीदते हैं, एक पपीता कम पका होता है, एक ज्यादा पका हुआ है, तो ज्यादा पका हुआ का क्या मतलब है, वह खरीदना चाहिए या नहीं खरीदना चाहिए, उसके लिए क्या शब्द लिखेंगे। ऐसे ही आयुर्वेद से जुड़े हुए बहुत से ऐसे शब्द हैं। लोक भाषा की जब बात आती है, संहिता में 10 हजार शब्द हैं। हमारे कोष में 42 हजार में 12 हजार शब्द ऐसे हैं, जिसके लिए दूसरी भाषाओं में न के बराबर विकल्प हैं। भोजपुरी, मैथली और बंगला, ये अपवाद हैं। जैसे हड़ताल शब्द सीधा गुजराती से हिन्दी में आया और हमने अपनाया। इसी तरह कोलतार है, डामर है। अब कोलतार और डामर क्या है, किसी को डामर अच्छा नहीं लगता, वह कोलतार कहता है। तो कहां के शब्द को अपनाना, कहां के शब्द को नहीं अपनाया।

ओम प्रकाश केजरीवाल: एक और सवाल मधुकरजी से। आप फिलहाल प्रिंट मीडिया में हैं और पी. टी. आई. का जो हिन्दी विभाग है, भाषा, उसके प्रमुख हैं और 10 साल तक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में रहे, बी.बी.सी. में रहे। आपने सुबह के सत्र में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर रजत शर्मा का वक्तव्य सुना। इन दोनों पक्षों का अनुभव होने के बाद जो मैं सोचता था आपके आलेख में आएगा, आया नहीं, इन दोनों विधाओं की भाषाओं में आपको क्या अंतर लगता है और कौन सी अच्छी है कौन सी ज्यादा समृद्ध है, किसको बढ़ावा मिलना चाहिए।

मधुकर उपाध्याय : नहीं, इन दोनों का मुकाबला आप कर नहीं सकते क्योंकि.

ओम प्रकाश केजरीवाल : हिन्दी के संदर्भ में।

मधुकर उपाध्याय : हां, हिन्दी के संदर्भ में, इनका मुकाबला नहीं किया जा सकता क्योंकि ये दोनों इलज़ाम हैं। नम्बर एक हिन्दी मेरा ख्याल है किसी की भाषा नहीं है, आपने ग्रहण की है। हिन्दी आपकी भाषा कहां से हो गई, ढाई

जिले में बोली जाती है।

श्रोता : वो ढाई जिले हमारे वहीं के हैं, जिला सहारनपुर का हूं।

मधुकर उपाध्याय : हो सकता है आप उन ढाई जिलों के रहने वालें हों, सहारनपुर उस ढाई जिले में आता है। तो मैं यह कह रहा हूं कि उन ढाई जिलों की भाषा पूरे देश पर थोपने की....

श्रोता : अब वह ढाई जिलों की भाषा नहीं रह गई है,अब वह दक्षिण के लोगों की भाषा भी है, पूर्व के लोगों की भाषा भी है। जो एक करोड़ लोग हैं, उनकी भाषा है। लेकिन जो खड़ी बोली है, यह 80 करोड़ लोगों की भाषा बन गई है। आज अंग्रेज़ी इंगलैंड में भी सही तरह से नहीं बोली जाती। उन ढाई जिलों की भाषा को आप इस तरह से मत नकारिए, श्रीमान।

मधुकर उपाध्याय : मैं नकार नहीं रहा हूं, मैं यह कह रहा हूं कि यह ग्रहण की हुई भाषा है, आपकी भाषा नहीं है

श्रोता : नहीं, हमारी भाषा है। भाषा तो ग्रहण ही की जाती है। अंग्रेज़ी भी ग्रहण की गई है।

मधुकर उपाध्याय : हां, अंग्रेज़ी ग्रहण की जाती है, जो आपकी मातृभाषा है वह अलग है, आप उसको मातृबोली नहीं कहते हैं, उसको मातृभाषा ही कहते हैं और परिभाषित करने का कोई यह आधार नहीं है कि उसमें लिख सकते हैं या नहीं, उसका व्याकरण है या नहीं है।

श्रोता : अच्छा, उसका तो जवाब दीजिए, जो मैं पूछ रहा था।

मधुकर उपाध्याय : हां, मैं कह रहा था कि यह जो टेक्नालाजी है और आप ग्रहण करने की विभिन्न स्थितियों में हैं, मतलब अखबार सबसे पहले आए, उसके बाद रेडियो आए, फिर टेलीविजन आया और उसके बाद इंटरनेट आया। तो भाषाएं उस हिसाब से अपने आपको 'मोल्ड' करती हैं, फिर बदल जाती हैं। आप उनका इस्तेमाल उसी तरह करना शुरू करते हैं। मैं भाषा और शब्दों के संक्षिप्तीकरण की बात कर रहा था। मैं बता रहा था कि कैसे यह संकुचित हो रही है। टेक्नालाजी आपको दूर तक पहुंचाती है लेकिन संसार छोटा करती है, मैं इस बात पर ज़ोर दे रहा था। अगर आपको यहां इन भाषाओं में फर्क दिखाई देता है, शायद अब योरोप में और अमेरिका में कोई

रेडियो और टेलीविजन और अखबार तीन चीजें एक साथ देखेंगे तो आपको उस तरह फर्क महसूस नहीं होगा जैसा यहां होता है। यहां ऐसा इसलिए कि हम अभी 'इवाल्व' कर रहे हैं, हमने अभी उसे पूरी तरह ग्रहण ही नहीं किया। उस प्रक्रिया में बहुत सारी चीजें आएंगी, बहुत सारी चीजें छूटेंगी, बहुत सारी चीजें जो आपके साथ हैं जो आपको बाद में गैर जरूरी लेगेंगी और आप खुद ही उसे खारिज कर देंगे लेकिन यह फर्क अभी है और इसलिए है कि हम पूरी तरह उस टेक्नालॉजी के साथ एक नहीं हुए है।

आलेख : आलोक मेहता

चर्चा

श्रोता : आलोकजी, एक सवाल पूछ सकता हूं आपसे। आपने कहा कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के आने से प्रिंट मीडिया को कोई खतरा नहीं है लेकिन मेरा अनुभव कुछ अलग है। एक तो यह कि प्रिंट मीडिया में जो छप रहा है, वह उस स्तर का नहीं है, जिस स्तर की उससे अपेक्षा है, पहली बात। दूसरी कि अगर इतना ही है कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का कोई असर नहीं पड़ा तो एक-एक करके हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाएं बंद क्यों हो गई।

आलोक मेहता : इन पत्रिकाओं के बंद होने के दो कारण हैं। और हम मैं तो *दिनमान* में भी रहा, *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* में भी रहा और इस पूरी प्रक्रिया के साथ लगातार जुड़ा रहा हूं। मेरा यह मानना है कि हिन्दी की पत्रिकाएं इसलिए नहीं बंद हुई कि इलेक्ट्रॉनिक माध्यम आ गया। हिन्दी की पत्रिकाएं उस समय बंद हुई जब इलेक्ट्रॉनिक माध्यम नहीं आया था। पहला दोषी मैं पत्रकारों का मानता हूं, प्रबंधक को भी नहीं मानता। मेरा यह मानना है जैसा मैने कहा कि यदि मैं यह कहता रहूं, अखबार कहां बिक रहा है, मुझे इससे मतलब नहीं है। मैने जो लिखा है, यह फरमान जारी कर दिया, जनता उसको झेले, मालिक झेले, यह स्वतंत्रता मेरी है। राजेन्द्र माथुर या मनोहर श्याम जैसे सम्पादकों ने मुझे तो यही सिखाया कि ऐसा नहीं है। जब पत्रकारिता में यह शुरू हुआ कि हम जो कर रहे हैं, हमें इससे कोई मतलब नहीं है या उसका लक्ष्य राजनिति बन गया। जब उसका लक्ष्य व्यक्तिगत अपनी मनमानी थोपना हो गया, तब मालिक को भी यह लगा कि इनकी अपनी मनमानी, जिसको कहना चाहिए कि

रंगरेलियों के लिए है, अय्याशी के लिए है, पत्रिका का उपयोग हो रहा है, तो उसकी क्या आवश्यकता है। उस धन का उपयोग मैं अपनी अय्याशी के लिए कर लूंगा या अधिक धन कमाने के लिए करूंगा। हम सब उससे जुड़े हुए हैं। उसमें दूसरी बड़ी दिक्कत यह हुई कि हिन्दी की ऐसी पत्रिकाएं अंग्रेज़ी के संस्थानों से जुड़ी रहीं, वहां मार्केटिंग में हिन्दी के लोग नहीं गए। हिन्दी में लोग मार्केटिंग में नहीं जाते, यह दुर्भाग्य है। हिन्दी के लोग राजनीति में जाना चाहते हैं, हिन्दी के लोग और किसी क्षेत्र में, दुनिया में जाना चाहते हैं, लेकिन मार्केटिंग में कम लोग गए। आज भी जितनी बड़ी गुंजाइश है कि उनमें मार्केटिंग में लोग जाएं, विज्ञापन की अच्छी कापी बनाने के लिए आप देखिए कम्पनियां करोड़ों रूपये कमा रही हैं जो खराब विज्ञापन बनाकर देती है। हिन्दी के जो लोग आते हैं, मैं उनसे यही कहता हूं कि हम अब तो कापी नहीं बदल सकते लेकिन जो आज आ रहे है वह अपने को अच्छी राइटिंग के लिए, अच्छे विज्ञापन एजेंसी में यदि वे प्रबंधक के पद पर होंगे तो जानेंगे कि हिन्दी की जरूरतें क्या है। *धर्मयुग, टाइम्स आफ इंडिया* से जब मुफ्त में विज्ञापन मिल रहा है बगैर कहीं जाए, घर में बैठ कर उसे विज्ञापन मिल जाता था तो *धर्मयुग, दिनमान* और *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* के लिए लाने की कोशिश नहीं करते थे। *सरिता* और *मुक्ता* को कोई घाटा नहीं है, दिल्ली प्रेस की वही पत्रिका है। माया और *मनोहर कहानियां* हिन्दी की पत्रिकाएं हैं, ये क्यों नहीं बंद हुई, उनको भी तो घाटा होना चाहिए था, उनको घाटा नहीं हुआ।

श्रोता : *मनोहर कहानियां* बंद हो गई।

आलोक मेहता : परिवार के झगड़ों से बंद हुई, विज्ञापन न मिलने से बंद नहीं हुई। हिन्दी उसका कारण नहीं है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से खतरा नहीं है। आज भी हिन्दी की पत्रिका *इंडिया टूडे* मेरे हिसाब से सबसे खराब निकलती है, लेकिन 3 लाख से अधिक बिक रही है। मार्केटिंग है नहीं, 10 लाख बिक सकती है, हालांकि वह अनुवाद है, हिन्दी की इस रूप में पत्रिका नहीं है। हिन्दी में गुंजाइश है कि 5-10 लाख बिक सके। आज से 15 साल पहले यदि *धर्मयुग* दो-तीन लाख बिक सकता था तो आज उसकी कमी नहीं हुई, पाठक बढ़ा है। तो इसलिए इलेक्ट्रॉनिक माध्यम की वजह से यह नहीं हुआ, क्यों नहीं बिकती क्योंकि कोई वैसी पत्रिका निकालता नहीं है यह सकंट है।

श्रोता : इस समय हिन्दी में साप्ताहिक और सब प्रकार की पत्रिकाएं मिला कर 15,000 पत्रिकाएं निकल रही हैं और न्यूज पेपरो की रिपोर्ट के अनुसार अंग्रेज़ी में 4,000 हैं, जैसा आपने बताया। अंग्रेज़ी के अखबार 40-45 लाख निकल रहे हैं जबकि हिन्दी के दैनिक डेढ़ करोड़ हैं। उसी प्रकार अंग्रेज़ी 4 हजार पर रह गई, हिन्दी 15,000 पर पहुंच गई। जब 15,000 पर हिन्दी पहुंच गई तो भारत सरकार की पत्रिका 2,500 है तो फिर कैसे चलेगा। आप खरीदने वाले की क्षमता देखिए न। उसको *प्रतियोगिता दर्पण* खरीदनी है, वह आपका *धर्मयुग* क्यों खरीदेगा, उसको *प्रतियोगिता दर्पण* खरीदनी है। किक्रेट वाला है तो *क्रिकेट सम्राट* चाहिए उसको तो फिर आपके *प्रतियोगिता दर्पण* को खरीद कर क्या करेगा, *धर्मयुग* को खरीदकर क्या करेगा, क्या खाली कहानी पढ़ता रहेगा। विज्ञापन के लिए *विज्ञान प्रगति* देखिए, *साइंस रिपोर्टर* देखिए, साइंस *रिपोर्टर* 30,000 पर है, *विज्ञान प्रगति* एक लाख तक पहुंच गई है या 70,000 अभी बिकी है। उसको दबाने के बावजूद, उसको दबाने की कोशिश की गई, फिर भी 70,000 है। तो साइंस की पत्रिका, विज्ञान या टेक्नॉलाजी की पत्रिकाएं हिन्दी में थीं, *नीरोगाधाम*, वह देखिए कितनी बिक रही है। सबको पछाड़ कर रख दिया, अंग्रेज़ी की एक पत्रिका उसके मुकाबले में खड़ी नहीं हो सकती। स्थिति वो नहीं है, उसका दूसरा कारण है जो मैंने बताया बंद होने का।

श्रोता : मुझे मेहताजी क्षमा करें, *टाइम्स आफ इंडिया* के बारे में मैने कहीं पढ़ा है स्वयं कि 50,000 कापी प्रतिदिन टाइम्स आफ इंडिया वाले बम्बई में जलाते हैं, विज्ञापन लेने के लिए और कागज का कोटा लेने के लिए दिखाते हैं कि वह अधिक छप रही है।

श्रोता : वैश्वीकरण का यह असर है कि अखबारों की प्रसार संख्या में जरूर एक संकट है, हम लोगों को उससे भी कई बार परेशानी होती है। हमारा सरकारी तंत्र बहुत गडबड़ है, उसमें क्या है कि कागज पर वह पत्र निकाल रहे हैं, वह विज्ञापन भी ले लेते हैं या कागज ले लेते हैं, सचमुच में वह जनता तक नहीं पहुंचते। मुज्जफरपुर एक ऐसा शहर है, बिहार के भी मित्र यहां होगें, वहां से 200 दैनिक अखबार निकलते हैं। बताइए 200 दैनिक अखबार दुनिया के किसी देश में नहीं निकल सकते। इसलिए यह जो गड़बड़ है, उस पर भी कहीं अंकुश होना चाहिए। एक स्वतंत्रता होनी चाहिए, जैसा मैने कहा कि.. अखबार

चंपारण से भी निकले, मुज्जफरपुर के बगल से निकले, लेकिन यह जो गड़बड़ है कि एक ही में छापें, ऊपर नाम बदलें।

श्रोता : आलोकजी यह आपकी गलतफहमी है, मुज्जफरपुर में बहुत पढ़े-लिखे लोग, बहुत प्रबुद्ध लोग हैं।

आलोक मेहता : वही तो मैं कह रहा हूं। मैं तो मानता ही हूं कि मुज्जफरपुर में बहुत अच्छे लोग है, तो मुज्जफरपुर में गुंजाइश है, लेकिन जहां उसका गलत उपयोग होता है, वह खतरा बहुत है।

श्रोता : मीडिया में किस प्रकार की हिन्दी हो, इसका प्रत्यक्षदर्शी तो मैं रहा हूं क्योंकि मैं कई साल तक हिन्दी न्यूज यूनिट का इंचार्ज रहा और हर बार वहां एक कंसलटेंट या जिसकी भी चलती थी, वह चाहता था हिन्दी के समाचार उसके अनुरूप हों। कोई बड़े पंडित टाइप के आ गए तो कहेंगे क्या यह आप उर्दू फारसी का समाचार पढ़ रहे हैं, संस्कृतनिष्ठ होना चाहिए। दूसरे लोग आएंगे कि यह क्या समाचार है, कोई समाचार नहीं है, इसमें उर्दू का समिश्रण होना चाहिए। हमारी समझ में यह नहीं आता था कि समाचारवाचक को क्या निर्देश दे कि आप हिन्दी में समाचार सुनें या समाचार में हिन्दी सुनिए। हमें याद आ रहा है, अज्ञेयजी को कंसलटेंट बना दिया गया। समाचार प्रकाशित हुआ कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मद्रास के हवाई अड्डे पर कहा कोई पालिसी डिसीजन प्रसारित हुआ, प्रधानमंत्री आज सुबह नई दिल्ली से मद्रास के लिए रवाना हुए। तो अज्ञेयजी के बारे में कहा जाता है, अब हो सकता है अफवाह हो, कि उन्होंने कहा कि यह क्या बात है, पहले आप कह रहे हैं कि उन्होंने कहा, पहले वह दिल्ली से चलेंगे, फिर मद्रास पहुंचगे, तब तो कहेगे। आप तो उलटा ही कह रहे हैं। अब फिर उनके निर्देशनुसार अगली बार जो समाचार प्रसारित हुआ वह यह था कि प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू आज नई दिल्ली से रवाना हुए, समाचार समाप्त हुए, क्योंकि फिर समय ही समाप्त हो गया। खैर आज सुबह रजत शर्माजी ने कहा कि जो *इलेक्ट्रॉनिक मीडिया* में इंगलिश का प्रचलन शुरू हुआ वह उन्होनें किसी मजबूरी में किया, जो भी हो, लेकिन वह इतना प्रचलित हो गया और इतना लोकप्रिय हो गया, उसकी 'रीच' इतनी अधिक हो गई कि ज्यादा-से-ज्यादा चैनल उसी स्टाइल को अपनाते गए। मैं आप दोनों से पूछना चाहता था कि क्या आपको कोई दबाव प्रिंट

मीडिया में भी है क्या यह भय है? क्योंकि हमारे देखते-देखते वहां की भाषा बदली है। अब छोटी सी बात है, हमेशा व्याकरण में हम यह पढ़ते गए कि इतने लोगों की जान गई, अब कहते हैं जानें गई। हमने यह किया, अब हम यह सुनते है कि हमने यह करा। तो क्या इस तरह के दबाव प्रिंट मीडिया पर भी हैं। क्या आपको लगता है कि प्रिंट मीडिया की भाषा भी प्रकारांतर में जैसे कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की है, हिंगलिश है, वह हो जाएगी। अगर यह होगा तो इसका क्या असर होगा और क्या यह नहीं हो सकता कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया अपनी 'रीच' की फायदा उठा कर अच्छी भाषा का प्रसार करे।

आलोक मेहता : दबाव तो एक ही तरह के हैं, रजत शर्मा की वह बात न समझ में आती है न मुझे स्वीकार करने लायक लगती है वह यह कि उनका यह कहना था कि हम इतने असहाय हैं कि मार्केट फोर्सेस गर्वन कर रही थीं, उन्होंने 'सरेंडर' कर दिया। उनके पूरे कहने का मतलब यह था कि बाज़ार की मांग यह थी और हमको बाज़ार की मांग के आगे झुकना पड़ा, हम कुछ नहीं कर सकते थे, इसलिए हमको यह भाषा इस्तेमाल करनी पड़ी। इतने असहाय भी नहीं हों, कम-से-कम भाषा के संदर्भ में। अब कहीं से शब्द ले सकते हैं। जिसकों हिंगलिश कह रहे हैं और जिसके लिए वे अपने आपको असहाय बता रहे हैं कि ऐसा करना एक मजबूरी थी और अगर यह नहीं करते तो शायद बाज़ार उनको स्वीकार नहीं करता और 'रीच' है इसलिए बाज़ार भी उनको मान रहा है। यह भाषा संसार इतना असहाय नहीं है और न ही टेलीविजन का संसार इतना असहाय है। मतलब एस पी सिंह, रजत शर्मा से कोई कम लोकप्रिय नहीं थे लेकिन उन्होनें ऐसी भाषा नहीं बोली जैसी रजत शर्मा बोलते हैं।

श्रोता : तो फिर यह बताएं कि हो क्यों रहा है, बोल क्यों रहे हैं?

आलोक मेहता : बोल इसलिए रहे हैं कि वह 'मार्केट' के ज्यादा दबाव में हैं, वह कमर्शियलाइजेशन के ज्यादा दबाव में है, बनिस्पत एस.पी. सिंह के। एस. पी सिंह की जहां कमियां थी, उसका संकेत जब मैं पढ़ रहा था तो मैंने कर दिया था, वह अलग बात है।

श्रोता : क्षमा करेंगे, इस सम्बन्ध में मेरा इतना कहना है कि यदि उनके ऊपर इतना दबाव था तो धारावाहिक चाणक्य की सफलता या रामायण की सफलता

या आज जो इतने सारे धार्मिक धारावाहिक आए, इनकी सफलता कैसे हुई? उसमें हिन्दी कैसे सफल हुई? इसका अर्थ यह हुआ कि इन लोगों ने जैसा आपने कहा, जानबूझकर समर्पण किया, उनके मन की ग्रंथि ने इनको समर्पण कराया। वरना कोई कारण नहीं था, नहीं तो इतने सारे धारावाहिक एक साथ चल रहे हैं सारे देश में देखे जा रहे हैं, तमिलनाडु में भी देखे जा रहे हैं।

आलोक मेहता : इसके और विस्तार में अगर जाएं, दो कारण हैं। पहला कि प्रिंट मीडिया में एक तो इतना दबाव नहीं है। यदि आपको याद हो सूर्यकांत बालीजी हमारे साथी थे जिस समय मैं *नवभारत टाइम्स* में था और प्रबंधन ने जब कहा तो उन्होंने स्वीकार कर लिया कि हिन्दी अखबार में अंग्रेज़ी सिखाई जाएगी, तो एक समर्पण यह होता है। उनके सामने भी हम इस बात को रखते है कि यदि आप अपनी भाषा के प्रति, जैसा आपने कहा कि यदि मजबूर हमें नहीं कर रहे हैं कि आप अंग्रेज़ी का कार्यक्रम है, आप अंग्रेज़ी में बोलिए, तब तो ठीक है, या आप किसी ऐसे व्यक्ति के सामने बोल रहे हैं। जो हिन्दी का शब्द नहीं जानता तो हिन्दी बोलने का कोई फायदा नहीं है, लेकिन यह है कि इसी तरह से हिन्दी अखबारों में भी दबाव तो प्रबंधन का ही आएगा। हमारे यहां भी बीच-बीच में चर्चा हुई। चंडीगढ़ का संस्करण है कि यदि उच्चतम न्यायालय न लिख कर सुप्रीम कोर्ट लिख दिया जाए तो क्या हर्ज है। यह अकेडेमिक बहस का विषय तो है, मैं यह मानता हूं कि उच्चतम न्यायालय भी समझ सकते हैं, लेकिन सुप्रीम कोर्ट भी यदि लिख दिया जाए तो मैं नौकरी छोड़ दूंगा। मतलब दो एक्स्ट्रीम हो सकते हैं। तो इस हद तक यदि थोड़ा सा आप देखिए बी.बी.सी. की हिन्दी सर्विस ने जब मधुकर वहां पर थे समझौता नहीं किया है। रजतजी हमारे मित्र हैं, रजतजी की दूसरी समस्या रही। वे जी टी. वी. में आए, तब रूपर्ट मर्डोक ने पैसा लगाया था। यदि मेरा प्रबंधन, समीर जैन, शोभना भरतिया या रूपर्ट मर्डोक, हिन्दी नहीं जानता है तो पैसा उनके पास है मेरे पास पैसा होता तो मैं उनकी नौकरी नहीं करता अपने ढंग से हिन्दी का अखबार निकालता, उनकी समस्या यह है। अरूण पुरी की समस्या भी यही है, जो आज तक की है या एन डी टी.वी. के प्रणव रॉय की समस्या है। उनका कहना यह है कि यदि मुझे समझ में नहीं आ रहा है तो मैं यह कैसे मान लूं कि बाज़ार में जो खड़ा हुआ है पान वाला, उसको समझ में आएगा। मैं यह मानता हूं कि यह दादागिरि इस रूप में तो है ही कि पहले मुझे समझाओ

तुम क्या बोल रहे हो, यदि मैं नहीं समझूंगा तो पता नहीं तुम अपने आप क्या करोगे। मजबूरी यह अवश्य है कि प्रबंधन यह कहता है, यदि मेरा पैसा है तो यह तभी चलेगा और इसलिए आप देखें कि ऐसे सारे प्रबंधक जैसे किसी सम्पादक को सहन करने को तैयार नहीं, जो असहमति व्यक्त करें। यदि वह कहे कि नहीं मैं समझता हूं कि इस समय शाम हो रही है, वे कहते हैं कि मेरा पैसा है, आप यह कैसे हिमाकत करते हैं कि शाम हो रही है, मैं कह रहा हूं कि सुबह है तो आप सुबह मानिए, क्योंकि पैसा मेरा है। तो बाज़ार का यह असर तो हो सकता है। उसमें फिर यह कि जो समझौता करने को तैयार वह कहेगा कि हां मैं पर्दा लगा देता हूं और कहूंगा कि हां मैं बिलकुल अंधेरा देख रहा हूं। मुझे झुकना है तो मैं पर्दा लगा दूंगा और मालिक को खुश करके कहूंगा कि सचमुच में मुझे तो अंधेरा दिख रहा है, पता नहीं बाहर क्या हो रहा है, बाहर से मुझे कोई मतलब नहीं, मुझे तो आपसे मतलब है, मुझे पैसे से मतलब है, मुझे पांच लाख रूपया कमाना है। अब जी टी.वी. वही है शायद उसका प्रसार बढ़ा भी है और उसके दर्शक भी बढ़े हैं, अब उसकी भाषा वह नहीं है, जब रजतजी वहां थे। वह शुरू का एक प्रारम्भिक दौर था। कहीं-न-कहीं उनके मन में भी होगा कि मुझे स्टार टी. वी. से भी काम मिलेगा तो मैं उस हिन्दी के जरिए पहुंचूंगा रूपर्ट मर्डोक तक। मेरा लक्ष्य यदि यह है कि मुझे तीन मूर्ति पहुंचना है तो मैं किस रास्ते से वहां पहुंचना चाहता हूं। इसलिए मैं मानता हूं कि मैंने पहले भी कहा कि अखबार हो, पत्रिका हो, रेडियो हो, टेलीविजन हो, हम जो उससे जुडे हैं, वे उसके पतन के ज्यादा जिम्मेदार हैं। हम केवल मेरा कपड़ा बहुत सफेद है, उनका कपड़ा खराब है, यह दिखने के लिए कहता रहूं कि प्रबंधन बड़ा गड़बड़ है, वह विश्व का मार्केट आ गया, अमेरिकन मुझे कह रहे हैं कि ऐसी भाषा बोलिए, कोई नहीं कहता, कोई प्रबंधन नहीं कहता, समीर जैन या शोभना भरतिया ने मुझे नहीं कहा, मैं यह नहीं मानता कि कोई फोर्स करता है। यह हो सकता है कि जितने समय तक आपके साथ ठीक चलता है, जब उनको लगे कि नहीं इस हद तक आप नहीं चल सकते तो आप अपना रास्ता बदल दें लेकिन यह मजबूरी बाज़ार की मजबूरी भी नहीं है जैसा मैंने कहा, पाठक यह मजबूर नहीं कर रहा, पाठक यह कह सकता है कि ठीक है, मुझे सुप्रीम कोर्ट समझ में आ रहा है आसान है। मेरी बेटी भी हिन्दी पढ़ सके, यह कोशिश मेरी होनी चाहिए, नई पीढ़ी आई

है, वह हिन्दी के अखबारों से बिल्कुल दूर न हो जाए, यह प्रयास अवश्य होना चाहिए। अच्छे पब्लिक स्कूलों में आप देखिए कि अच्छी हिन्दी पढ़ाई जा रही है। हम पब्लिक स्कूल की आलोचना करते हैं, लेकिन 10वीं तक पढ़ाते हैं तो कम-से-कम सरकारी स्कूलों से सही हिन्दी पढ़ाते हैं। पब्लिक स्कूलों की आलोचना के बावजूद आप इस बात को मानेंगे और इसलिए आप देखेंगे कि कई आई.ए.एस., आई.पी.एस अच्छी हिन्दी जानते हैं, लिखने नहीं दिया जाता उनको बोलने नहीं दिया जाता, लेकिन वे अच्छी हिन्दी का प्रयोग कर सकते हैं, करते हैं। लेकिन हमारी व्यवस्था ऐसी है कि उनसे कहा जाता है कि नहीं अंग्रेज़ी में पेपर तैयार करके दीजिए। अभी प्रधानमंत्री के साथ मैं न्यूयार्क में था, पहले तो कोशिश यह हुई कि वे हिन्दी में न बोलें जबकि 1977 में संयुक्त राष्ट्र में बोल चुके थे। इस बार भी दबाव था, प्रधानमंत्री खुद की इच्छा के बावजूद न बोल पाएं फिर भी अंततः रात तक फैसला हो गया कि वे हिन्दी में बोलेंगे। अंग्रेज़ी के भाषण की प्रति जो अनुवादित भाषण था वे सब अखबार वालों को उपलब्ध हो गई, दिल्ली तक पहुंच गई लेकिन हम लोग कहते रहे कि हिन्दी की प्रति दे दीजिए तो उनके प्रेस सलाहकार कहने लगे कि नहीं वे अभी नहीं मिलेगी। तो एक यह पूर्वाग्रह जो प्रशासनिक होता है, यह ठीक नहीं है, हिन्दी का भाषण तो प्रधानमंत्री की जिम्मेदारी है, जब वे बोलेंगे तब दीजिए आप अपने आप, हम इसकी जिम्मेदारी नहीं लेगें, लेकिन हिन्दी जानने वाले अधिकारी भारत सरकार में कम नहीं है और उसमें कोई बहुत ऐसी दिक्कत नहीं होती है। तो मेरे कहने का मतलब है कि यह एक मानसिकता का सवाल है। इसमें न प्रधानमंत्री दोषी है, न उनके सलाहकार दोषी हैं, लेकिन एक पूरी व्यवस्था हमारी ऐसी है जिसमें गड़बड़ है।

श्रोता : आलोकजी और मधुकरजी से, प्रश्न करना चाहता हूं। मधुकरजी ने भाषा में बोलियों के महत्व के बारे में बहुत कहा। डा. गंगवार ने उसके सम्बन्ध में प्रश्न उठाया कि जो बोलियों का प्रभाव भाषा में है, उन बोलियों का प्रभाव जन संचार का माध्यम बन सकता है, क्योंकि बोली का क्षेत्र तो सीमित होता है और भाषा का जो क्षेत्र होता है, वह बहुत विस्तृत होता है। इसी तरह आलोकजी ने बताया कि भाषा में बोलियों का जो प्रभाव है वह अक्षुण है, उसकी अपनी रीच है, लेकिन वह रीच भी बहुत सीमित है। जैसे अगर दैनिक भास्कर आप मालवा के हिसाब से लिखे रहे हैं। तो उसमें मालवी भाषा है। आप जयपुर

के हिसाब से लिख रहे हैं, उसमें वहां की भाषा है, आप कुमाऊं का लिख रहे हैं, उसमें कुमाऊंनी भाषा है। तो हिन्दी की तो सत्रह भाषाएं हैं और सत्रह भाषाएं वे हैं जो मुख्य उपभाषाएं है। अगर बोलियों में जाएंगे आप तो 337 भाषाएं है तो क्या आप यह समझते हैं कि 337 भाषाओं का प्रयोग किया जाएगा, भाषा में। तो जो राजभाषा की बात है और जो राष्ट्रभाषा की बात है वह इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि लोकभाषा में साहित्य की समृद्धि होती है लेकिन लोकभाषा कभी राष्ट्रभाषा, राजकाज की भाषा नहीं बन सकती है। जब हम ज्ञान-विज्ञान की बात करते हैं, शिक्षा के माध्यम की बात करते हैं, तो हम बोलियों की बात नहीं करते इसका अर्थ यह नहीं कि बोलियों की समृद्धि के हम विरोधी हैं, वह सुविधाजनक है, अगर हम यह मान लें कि राजभाषा का मतलब होता है तीन चीजों में हिन्दी का प्रयोग शिक्षा के माध्यम से हिन्दी का प्रयोग, न्याय और न्यायालय की भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग और प्रशासन में हिन्दी का प्रयोग। आप कल्पना करें कि जो प्रशासनिक सेवा का अधिकारी है, उसको तो हर जगह जाना है, जिला कलेक्टर से उसकी प्रारम्भिक पोस्टिंग होनी है, क्या वह सत्रह भाषाएं सीखेगा हिन्दी के लिए और हिन्दी क्षेत्र के बाहर होगा क्या 1652 भाषाएं सीखेगा। भारतीय जनगणना में हिन्दी की 1652 भाषाएं बताई गई हैं, क्या उसके लिए इतना सीखना सम्भव है। इसलिए राजभाषा की बात होती है। राष्ट्रभाषा का प्रचार नहीं किया जाता, वह तो प्रचारित है ही उसके लिए कोई आयोग नहीं बनता, उसके लिए कोई गृहमंत्रालय नहीं होता। राजभाषा के प्रचार के लिए होता है, क्योंकि वह कृत्रिम भाषा है। हिन्दी जो राजभाषा है, वह किसी बोली की नहीं है न अवधि की है, न खड़ी बोली की है, न मालवी की है, न मारवाड़ी की है, वह खड़ी बोली का वह रूप है जो परिमिश्रित और परिष्कृत है और अगर एक को हमने परिमिश्रित या परिष्कृत नहीं किया तो हम 100 को कैसे करेंगे।

श्रोता : यही तो मैं भी कह रहा था कि हिन्दी 'अक्वायर्ड लैन्गिविज' है, वह आपकी भाषा है ही नहीं और जिसको आप भाषा कह रहे हैं, उसको भी बोली के रूप में स्वीकार करते हैं, आप कभी यह नहीं कहते कि खड़ी बोली है।

आलोक मेहता : हर भाषा की स्थिति हिन्दी की ही तरह है। आप सोचते हैं कि इंगलिश की भाषाएं नहीं है, इंगलिश की बोलियां नहीं हैं, फ्रेंच की बोलियां नहीं है, हरेक की होती है, लेकिन उसमें एक मानक भाषा होती है और वह

मानक भाषा जो होती है वह राजकाज की भाषा होती है, वह साहित्य की भाषा नहीं होती। हमने दोनों को जोड़ दिया है। हम चाहते हैं कि राजभाषा जो है वह साहित्य की भाषा बन जाए और जो बोलियां हैं वे राजकाज की भाषा हों जाएं, तो यह दिशा भ्रम है।

श्रोता : इसमें थोड़ा सा अंतर करें आप, इसमें जो हम शुरू में बात कर रहे थे कि जो साहित्य की भाषा है, उसमें तो जो हिन्दी भाषा है जो अपनी हिन्दी है वही रहेगी। हम जो बात कर रहे हैं वह मीडिया की बात है। हिन्दी साहित्य में हिन्दी की बात करें तो अलग बात है लेकिन हम यहां अखबार की भाषा की बात कर रहे हैं। इसलिए हमने कहा यदि छत्तीसगढ़ या बिहार में जो बोला जा रहा है वह उस क्षेत्र में निकलने वाले अखबार में उस तरह के शब्दों का उपयोग होता है, इस पर आप ध्यान दें। इसको हम साहित्य की भाषा नहीं मान सकते, इसलिए सम्पादकीय पृष्ठ पर वह भाषा में अंतर नहीं कर रहे हैं, लेकिन जो क्षेत्र के समाचार हैं, वह एक अलग तरह की आवश्यकता है।

आलोक मेहता : वैश्वीकरण का यही खतरा है कि हिन्दी को अगर 17 उपभाषाओं में बाटं दिया, 17 बोलियों में बांट दिया तो हिन्दी कोई नहीं सीखेगा। जो जनसंचार की भाषा है, जो पत्रिका की भाषा है, जो राजकाज की भाषा है, वह एक होनी चाहिए नहीं तो हिन्दी किस-किस को सिखाएंगे आप। साहित्य की भाषा की बात अलग होती है। न्याय और न्यायालय की भाषा, शिक्षा के माध्यम की भाषा हमेशा, हर देश में, हर समय एक रही है

श्रोता : हमारे न्यायालय में आज तक कहां बनी भाषा हिन्दी। कोई भारतीय भाषा न्यायालय में आज तक लागू ही नहीं हुई 50 साल बाद भी।

आलोक मेहता : उर्दू रही, अंग्रेज़ी रही, वो बोलियां नहीं हो सकतीं। यही कारण था कि जब हिन्दी के लिए हमने मैथली को अलग मान लिया साहित्य अकादमी में, हमने राजस्थानी को अलग मान लिया, अब भोजपुरी की चर्चा है, बृजमाधुरी को आकाशवाणी ने मान लिया तो हिन्दी बची क्या है। यह चीज हिन्दी की नहीं है, यह भाषओं का वैश्वीकरण का जो संकट है यही है कि हम हिन्दी को तोड़-तोड़ कर देख रहे हैं, हिन्दी को हमें जोड़ कर देखना है जोकि हिन्दी भाषाओं की समष्टि का नाम है। अगर आप लोग 17 बोलियों में दैनिक भास्कर निकालें, इसका मतलब है कि हिन्दी कोई कभी नहीं सीखेगा। भाषा का

जो संचार माध्यम होता है उसके लिए यह सबसे बड़ा अघात है, अंग्रेज़ी में क्या कभी ऐसा होता है, क्या फ्रेंच में कभी ऐसा होता है। हरेक की उतनी ही बोलयां हैं, हरेक की उतनी भाषाएं हैं, लेकिन उन्होनें यह समझा है कि भाषा का संचार माध्यम जो है एक होना चाहिए, उसको हमें बोलियों में बांट कर नहीं देखना है। हाथ को अलग आपने काट दिया, पैर को अलग काट दिया तो फिर क्या बचा। हिन्दी का जो आसन्न संकट है वह यही संकट है।

श्रोता : इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को तो पूरा उन्मुक्त कर दिया गया, और प्रिंट मीडिया में आप लोग विरोध कर रहे हैं। जो बड़े व्यापारिक घराने हैं वे भी विरोध कर रहे हैं, पत्रकार विरोध कर रहे हैं, सब विरोध कर रहे हैं तो यह क्या एक असंतुलन पैदा नहीं करेगा कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को एक तरह की पिक्चर दे और प्रिंट मीडिया जो है इसके पीछे रहे या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का अनुसरण करे। तो यह जो स्थिति होगी उसमें मैं आपसे सहमत नहीं हूं, जैसे आपने उदाहरण दिया, बी.बी.सी.। उपाध्यायजी बी.बी.सी. में थे तो उन्होने इतने गांव घूमे कि जो शायद दूसरे में सम्भव नहीं होता। वैश्वीकरण का यह हो सकता है। आज यह भी हम देखते है इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में, जहां पर छोटी-छोटी जगह में भी कोई ईवंट होता है, वहां भी उनकी रीच है, उनके पास साधन हैं, और उनके 'ट्रेंड जरनलिस्ट' हैं, वे पहुंच रहे हैं और वे चीजें जो हैं, वे सामने आ रही हैं। हो सकता है कि प्रिंट मीडिया को अगर खोला जाए तो ये चीजें भी सामने आएंगी। तो मुझे लगता है कि बहुत बड़ा असंतुलन पैदा होने जा रहा है।

आलोक मेहता : जैसा मैंने कहा कि यह बड़ी लम्बी बहस है और इस पर मतभिन्नता स्वाभाविक भी है। आप जैसे कई पत्रकार मित्र और संस्थान जैसे *इंडियन एक्सप्रेस* समर्थन कर रहा है, *दैनिक जागरण* जो हिन्दी का अखबार है वह समर्थन कर रहा है आनंद बाज़ार पत्रिका ग्रुप समर्थन कर रहा है। पांच ऐसे संस्थान हैं देश में जो इसका पूरा समर्थन कर रहे हैं कि विदेशी पूंजी आनी चाहिए, क्योंकि पूंजी की आवश्यकता है। मैं आपका ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहता हूं कि मैं उज्जैन से अखबार निकालूं, मैं मुज्जफरपुर से अखबार निकालूं, बनारस से निकालूं तो जितनी पूंजी की आवश्यकता है, वह भारत में उपलब्ध है। लेकिन यदि मैं एक चैनल चलाना चाहूं तो यह सही है कि एक या दो करोड़ रूपया आसानी से उपलब्ध नहीं है, पहली बात। कुछ

लोगों का कहना है कि इसमें क्या फर्क पड़ेगा, आज भी तो दिल्ली में *लंदन टाइम्स* उपलब्ध है। हमारा यह मानना है कि जैसे स्टार टी.वी., सी.एन.एन, बी.बी.सी. पहले भी उपलब्ध थे, लेकिन यदि वह दिल्ली से ही संचालित होकर काम करेगें तो दिल्ली की मार्केट के हिसाब से भी काम करना होगा। तब उसके बाद कोई छोटा चैनल उतना सशक्त नहीं रह सकेगा। तो पहला आधार पूंजी है और दूसरा वैचारिक आधार है। मैंने कहा कि एक अखबार यदि 400 जगह से निकले और एकाधिकार कर ले तो एक विचार जो तय है, जो आलोक मेहता कर रहे हैं, आपका तब यह अधिकार होगा कि आप चाहे पांच हजार कापियां निकालकर अपने इलाके में पांच हजार लोगों को बांट सकते हैं। तब वह क्षमता भी न्यूनतम हो जाएगी। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि खतम हो सकती है, अमेरिका जैसे देशों में भी जिला स्तर के अखबार भी बहुत अच्छे चल रहे हैं। अखबार अजादी की दृष्टि से, प्रजातंत्र की दृष्टि से अभिव्यक्ति की दृष्टि से, समाज की दृष्टि से, क्षेत्र की दृष्टि से आवश्यक है कि उनमें विचारों की विविधता हो, हम तानाशाह न बनें, किसी अपने विचार को लेकर, जो विचार आपके हैं। इस दृष्टि से आवश्यक है कि विदेशी ऐसी पूंजी न आ जाए जो हम सब को निगल ले, हमारे आने वाली पीढ़ी, आने वाले बच्चे कोई अपने अखबार का कभी सपना ही न देख सकें। आज से 25 साल पहले या आज भी आप एक सपना देख सकते हैं कि मैं एक अखबार निकालूं, लेकिन यदि एक मर्डोक आ जाए,जैसा मैंने कहा अभी, तो उसके बाद वह कहेगा कि यह पत्रिका है जो 40 लाख बिकती है और सारे विज्ञापन हैं, जो *लंदन टाइम्स* को भी मिल रहे हैं, तब उनके सामने मेरी और आपकी कहानी की पत्रिका भी, जो यह बता रहे हैं कि दो पत्रिकाएं निकलती हैं, वह मुज्जफरपुर में भी नहीं चल पाएगी, क्योंकि वह 50 पैसे में उपलब्ध होगी और *टाइम्स आफ इंडिया* इसका प्रमाण है। यदि एक रूपए में अखबार *हिन्दुस्तान टाइम्स* और *टाइम्स आफ इंडिया* ने दिया तो *इंडियन एक्सप्रेस* जो मेरे हिसाब से एक अच्छा अखबार निकल रहा है, *इंडियन एक्सप्रेस* वैचारिक दृष्टि से आप देखें, समाचारों की दृष्टि से देखें, आज भी बेहतर अखबार है, लेकिन उसकी प्रसार संख्या आप देखिए कि कुछ भी नहीं है *टाइम्स आफ इंडिया* या *हिन्दुस्तान टाइम्स* के सामने। मूल्य के जरिए यदि कल 10 पैसे में मर्डोक आकर 100 पेज का अखबार देगा, तो आप मुझे बताएं कि कितने लोग दूसरा अखबार खरीदना चाहेगें। विज्ञापनदाता

सोचेगा यह अखबार एक करोड़ बिकता है। भारत में तो सबसे अधिक विज्ञापन तो उसको मिलेंगे।

श्रोता : *हिन्दुस्तान टाइम्स* और *टाइम्स आफ इंडिया* में आज भी इतनी प्रतिस्पर्धा है कि कौन सा अखबार चले, इसके लिए बहुत सी योजनाएं बनाई जाती हैं।

दूसरा दिन : पहला सत्र

ओम प्रकाश केजरीवाल: आज के प्रथम सत्र के लिए हम सौभाग्यशाली हैं कि हमारे बीच अध्यक्षता के लिए डा. पूरन चन्द जोशी हैं। आप हिन्दी और अंग्रेजी के लेखक तो हैं ही, आप लोगों मे से बहुतों ने इनका नाम सुना होगा, ये स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान बहुत सक्रिय रहे और कम्यूनिस्ट पार्टी से सम्बंधित रहे। आप जवाहरलाल नेहरू नेशनल फैलों भी रहे तथा कई अन्य पुरस्कारों से सम्मानित भी हुए। आप भूतपूर्व अध्यक्ष नेशनल स्कूल आफ ड्रामा, निदेशक इंस्टीट्यूट आफ इक्नामिक ग्रोथ और बाकी अनेक संस्थाओं से सम्बधित रहे। आपकी हिन्दी में कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुई। अब मैं जोशीजी से आग्रह करूंगा कि संचानल का कार्यभार सम्भालें।

पूरन चन्द जोशी : अध्यक्ष महोदय, डा. केजरीवाल, पंकजजी, आनंदकुमारजी और उपस्थित देवियों और सज्जनों। पहले तो मैं क्षमा प्रार्थी हूं मैं कल उपस्थित नहीं हो सका। इस संस्था के पूर्व निदेशक बी. आर. नंदाजी का यह मत था कि सेमीनार में एक सत्र के लिए कभी नहीं जाना चाहिए, सेमीनार का लाभ तभी होता है जब आप सेमीनार शुरू हो तो उसमें दाखिल हों और जब वह सेमीनार समाप्त हो तब उससे उठें। तभी आप उससे ग्रहण करते हैं। इस तरह की गोष्ठी एक आवश्यकता की पूर्ति करता है और मुझे लगता है कि हम इसे एक नए खोज का आरम्भ समझें, स्वयं इसे अपने में परिणति नहीं, क्योंकि जो प्रश्न यहां उठा है, वह अहम मुद्दा है, जो आज हमारे सामने है वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी और खासतौर पर जो आज का विषय है समाज विज्ञान और हिन्दी। कोई भी भाषा जब तक एक सामाजिक चिन्तन, आर्थिक चिन्तन, राजनीतिक चिन्तन, दार्शनिक चिन्तन, का माध्यम नहीं बनती है तब तक उस भाषा का साहित्य भी एक माने में अपूर्ण रहता है। हिन्दी से बहुत अपेक्षांए थीं, उन लोगों को जिन लोगों ने आजादी की लड़ाई लड़ी, जिन लोगों ने

नवजागरण के स्वप्न देखे। हिन्दी को आगे बढ़ाने वाले लोग हिन्दी क्षेत्र के बाहर के लोग थे। सबसे बड़े नाम जो हैं उनमें से अहिन्दी क्षेत्र के लोग ही हिन्दी के मुख्य समर्थक थे, तो कोई तो *विजन* उनका होगा। महात्मा गांधी, राजगोपालाचारी और सुभाष चन्द्र बोस जैसे बड़े व्यक्तियों ने हिन्दी को अपनाया क्योंकि बिना राष्ट्रभाषा के एक राष्ट्र कैसा, यह उन लोगों का स्वप्न था। निजभाषा उन्नति अहे, उस उन्नति को मूल, यह स्वप्न एक नव जागरण वाले भारतेन्दु का था, तो वह स्पप्न क्यों पूरा नहीं हुआ। उनको अपेक्षा थी एक भारतीय भाषा में से सभी भारतीय भाषाएं और उनमें से एक भाषा जो राष्ट्रभाषा बने, तो वह बुद्धिजीवियों को क्यों नहीं आकर्षित कर सकी। एक जापानी बुद्धिजीवी है वह अपना चिन्तन जापानी भाषा में करता है। एक सर्वश्रेष्ठ चीनी अपना चिन्तनी चीन भाषा में करता है और अपने देश के बाहर वह अपने ही देश की भाषा बोलता है। हमारा सर्वश्रेष्ठ बुद्धिजीवी अपनी भाषा में चिन्तन आज भी नहीं करता और क्या इसके बिना काम चल जाएगा। गांधीजी ने तो यहां तक कहा था कि जब तक अपनी भाषा नहीं होगी तब तक 'इट विल आलवेज रिमेन ए रेस आफ इमीटेटर'। हम कभी एक मौलिक चिन्तन के लिए हम सक्षम नहीं बन सकते, जब तक अपनी भाषा न हो। क्योंकि एक भाषा को 'डिसओन' करना, अपनी एक पूरी परम्परा की जड़ों को 'डिसओन' करना है। जब तक जड़ों से आप कटे हुए हैं, तब तक आप कैसे बढ़ेंगें।

खैर बहुत बड़े सवाल हैं। साहित्य के अलावा, साहित्य के बाहर जो सामाजिक चिन्तन है, उसमें क्या अवरोध हैं और क्या वैश्वीकरण इन अवरोधों को और मजबूत करेगा। क्या वैश्वीकरण कुछ नए अवसर और नई चुनौतियां और नई सम्भावनाएं लेकर आ रहा है, किस तरह हम सम्भावनाओं को देखें, पहचानें, उनका उपयोग करें और अवरोधों पर विजय पाएं। सिर्फ निराशावादी दृष्टिकोण अपनाएं कि जो हुआ ठीक है या एक संकल्प की भाषा भी अपनाएं कि इस परिदृश्य को हम बदलेंगे और एक नया परिप्रेक्ष्य बनाएंगे।

इस सत्र में दो आलेख पढ़े जाएंगे। पंकज विष्ट तथा प्रोफेसर आनन्द कुमार द्वारा मैं पहले आनन्दजी से, निवेदन करूंगा कि वह अपना आलेख पढ़े।

आलेख :- आनन्द कुमार

चर्चा

श्रोता : असल में मुझे सवाल तो कोई पूछना नहीं है, क्योंकि आनन्द कुमारजी का भाषण बहुत बढ़िया था, उसी में कुछ थोड़ा बोलना चाहता हूं। जैसेकि पंकज बिष्टजी ने कहा भी कि बृजमोहन पाण्डे ने प्रकृति पर बहुत अच्छे लेख *दिनमान* में लिखे हैं और बाद में वह अंग्रेज़ी में लिखने लगे। तो यह मुझे याद आ रहा है श्यामाचरण दुबे ने अपना यह अनुभव सुनाया डा० रामविलास शर्मा जब 60 साल के हो गए थे, वो दिल्ली में थे। उनका जन्म दिन मनाया गया त्रिवेणी सभा कला विहार त्रिवेणी में, डा० श्यामाचरण दुबे अध्यक्षता कर रहे थे। हिन्दी की सब बात हुई तो उन्होंने कहा मैं क्या करूं, आप लोगो के सामने यह बताते हुए मुझे मानसिक तौर से बहुत बुरा लग रहा है लेकिन मैं किशोर था, नौजवान था और गांधीजी से प्रेरित था, जैसे सब थे। तो मैं हिन्दी में ही लिखता, लेकिन मुझे किसी ने नहीं पढ़ा, कोई इसकी चर्चा नहीं करता था तो लोगों ने कहा तुम क्या करते हो, समाज विज्ञानी और हिन्दी में। यह सब क्या है, किसी ने 'रिकगनाइज' नहीं किया। जैसे ही मैंने अंग्रेज़ी में लिखना शुरू किया तो मुझे सिंगापुर बुलाया गया, पेरिस बुलाया गया, लंदन, रोम में सेमीनार में जाने लगा, मैं छा गया, सारी अंतरराष्ट्रीय मान्यता मुझे मिल गई, अब बताइए में क्या करूं। मतलब मै अब सब अंग्रेज़ी में करने लग गया।

यह खुद उन्होंने स्वीकार किया कि कितनी बड़ी विडंबना है कि जिस गांव का मैंने अध्ययन किया, उसके बारे में अगर मैं उसको अपनी भाषा में लिखता हूं तो उसको कोई मान्यता नहीं, कुछ नहीं, जैसे ही मैंने अंग्रेज़ी में लिखा तो मान्यता मिल गई यह सच्चाई है, इसको क्या किया जाए। 1857 के गदर की बात है, पूना से दो ब्राह्मण चले, उन्होने सारी आंखो देखी घटना मराठी में लिखी लेकिन किसी भी इतिहासकार ने अपनी भाषा में लिखा हुआ उपयोग नहीं किया। किसी अंग्रेज की शिमला में मिली डायरी, किसी चपरासी या खानसामे या किसी नर्स की डायरियां ले लेकर लिखा है। 1857 पर जाने कितनी सामग्री है इस देश में लेकिन *माझ प्रवास* का कहीं कोई जिक्र नहीं, जो यहां के लेागों ने लिखे हैं। जो 'सोर्स' है, अंग्रेजी में है। वे सब तो प्रामाणिक हैं लेकिन उससे भी आगे भयानक बात देखिए 1957 में गदर के 100 साल मनाए गए। अमृतलाल नागर अवध के गांव-गांव में गए और उन्होंने लोगों से पूछा,

बातचीत की लोककथाओं और लोक गीतों से उन्होनें नोट किया। उससे एक नए तरीके का इतिहास पता लगा कि 1857 में जनता ने ये-ये काम किए थे। *गदर के फूल* नाम से हिन्दी में एक किताब है, किसी भी इतिहासकार ने उसको पलट कर नहीं देखा, उसका जिक्र ही नहीं करते क्योंकि वह अंग्रेज़ी में नहीं है, फ्रेंच में नहीं है। तो यह कब खतम होगा, क्या होगा, यह घनघोर निराशा का वातावरण है, लगता है कि जैसे हिन्दी को आप मार रहे हैं, क्या कर रहे हैं, यह सब है, क्या किया जाए।

उषा महाजन : मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी में पढ़ी हूं, लेकिन मैं हिन्दी में लिखती हूं। हिन्दी की दुर्दशा के बारे में हम सब लोग सुन रहे है, लेकिन कोई भी लेख ऐसा नहीं है जिसमें यह बताया जाए कि हिन्दी को आगे बढ़ाने के लिए कौन सा ठोस कदम उठाना होगा, कौन सा व्यवहारिक कदम हम उठा सकते हैं। मेरे ख्याल से हमें यह भी बताना चाहिए कि हिन्दी को सचमुच में व्यवहार में लाने के लिए हम क्या कर रहे हैं। हम लोग लेखक हैं लेकिन हमारे बच्चे भी हमारी किताबें नहीं पढ़ते हैं। तो हम क्या करें कि जो आगे आने वाली पीढ़ी है, उसको भी हिन्दी के प्रति उतना प्रेम जगे और उसको हम आगे कैसे बढ़ाएं। मैं आपको एक बात बताती हूं कि मेरी एक मित्र डी.पी. एस. में पढ़ाती हैं और सितम्बर अक्तूबर के महीने में मुझे इतने फोन आते हैं और बहुत सारे फोन मेरे जान पहचान के लेखकों के आते हैं, कि हमारे बच्चों को डी.पी.एस. में एडमिशन दिलाने में मदद कर सकती हैं। अब आप यह बताइए कि अगर हिन्दी के ही लोग अपने बच्चों को अंग्रेज़ी के स्कूलों में पढ़ाने के लिए इतने लालायित रहेंगे तो फिर हमें इतनी बातों की अपेक्षा कुछ ठोस काम करने चाहिए। और एक बात और बताती हूं कि अंग्रेज़ी का एक संस्कृत स्कूल अभी नया ही शुरू हुआ हैं, जिसकी बहुत कम अरसे में बहुत अच्छी साख बन गई है। बड़े स्कूलों में बच्चों को एडमिशन नहीं मिलता तो कुछ अभिभावकों, अफसरों ने मिलकर संस्कृत स्कूल खोला है और वह स्कूल बहुत अच्छा चल रहा है। तो क्यों नहीं हम हिन्दी के जो लेखक हैं कुछ ऐसा ठोस कदम उठाएं या हिन्दी का कोई ऐसा स्कूल ही खोल दें या कुछ करें कि सबको पता चले कि हिन्दी भी कोई चीज है। इसकी दुर्दशा के बारे में जब कहते हैं तो हमें कुछ ऐसा जरूर करना चाहिए कि लोग हिन्दी को कुछ समझें।

श्रोता : पंकजजी ने कहा कि हिन्दी में गंभीर सामग्री की रचना नहीं हो रही

है, मैं उनसे केवल एक सवाल पूछना चाहती हूं कि क्या यह इसलिए तो नहीं है कि हिन्दी भाषा के रूप में जोकि बहुत बाद में पैदा हुई, भारतेन्दु के बाद, और 200-300 साल शायद भाषा के विकास के लिए यथेष्ठ नहीं है, जिसमें इस तरह की सामग्री लिखी जा सके।

पंकज बिष्ट : पहले उषाजी की बात पर भी थोड़ी सी टिप्पणी करना चाहता हूं, देखिए मामला सिर्फ हिन्दी लेखकों का नहीं है और हिन्दी लेखक इसको नहीं सुलझा सकते। यह भाषा का सवाल सदा राजनीतिक सवाल होता है। और इसका सम्बन्ध राजनीति से है इसलिए बार-बार राजनीति उसमें लाई जाती है। एक स्कूल चलाने से, हिन्दी के प्रति आप लोगों को नहीं मोड़ सकते। जो यथार्थ है वह यह है कि आप अंग्रेज़ी के बगैर एक कदम नहीं जा सकते। मैं अपने बच्चों को हिन्दी स्कूल में भेज सकता हूं पर क्या आप उसकी बाकी गारंटी ले सकती हैं कि मेरे बच्चों को कहीं नौकरी मिलेगी, उनका रोटी का कोई प्रबंध होगा। संकट सबसे बड़ा यह हैं। इसलिए जब हम आलोचना कर रहे हैं तो उस संदर्भ में, वृहत्तर संदर्भ में उस बात को लाने की कोशिश कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि एक सीमा तक यह बात सही हो सकती है हिन्दी नई भाषा है और उसमें ये विषय नहीं लिखे जा सकते। जैसा कि मैंने अपने पर्चे में थोड़ी सी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में कहा था कि हम लोगों के साथ लगातार एक प्रवृत्ति यह है कि हम अपनी भाषाओं में यहां तक कि संस्कृत में भी आलोचनात्मक लेखन नहीं करते। अगर मात्र भाषा का ही सवाल होता तो संस्कृत में तो कुछ नजर आता। एक बात मैं आपको कहना चाहता हूं कि वह समाज, वह देश जो दुनिया का सबसे बड़ा व्यापारिक देश है, उसने ज्वाइंट स्टाक कंपनियों का जो इंस्टीट्यूशन है, वह नहीं खोला, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आज व्यापार, वाणिज्य और वित्त संस्थाओं की टर्मिनोलोजी अंग्रेज़ी से आती हैं, क्या भारत में वे संस्थाएं नहीं थीं, क्या भारतीय उनको विकसित करने की स्थिति में नहीं थे। क्या आज उनके समानांतर शब्द या संस्थाएं भारत में नहीं हैं, अगर नहीं थी तो हिन्दुस्तानी व्यापार कैसे करते रहे? 17वीं, 18वीं शताब्दी तक इतना बडा व्यापार कैसे किया? यह एक बात है। मेरे ख्याल से सबसे बड़ा सवाल है कि हमको यह प्रयत्न जो है वही नजर नहीं आता।

श्रोता : अध्यक्ष महोदय, उषाजी का प्रश्न और बिष्टजी की टिप्पणी, उसके

बारे में मैं एक बात कहना चाहता हूं। बात हिन्दी स्कूल और अंग्रेज़ी स्कूल की नहीं है। हिन्दी स्कूल घटिया स्कूल का पर्याय बन गया है। एक विद्यालय भारत में ऐसा है जो हिन्दी का विद्यालय है और जिसकी पूरे देश में साख है। कोई भी ऐसा विद्यार्थी उस विद्यालय का नहीं है जो आज भारत में किसी विशिष्ट पद पर न हो, हिन्दी माध्यम है प्रारम्भ से अंत तक लेकिन उनकी अंग्रेज़ी कमजोर नहीं है। जो उषाजी का कहना है या जो बिष्टजी की टिप्पणी है वह इसलिए है क्योंकि हिन्दी स्कूल का मतलब है घटिया स्कूल और अंग्रेज़ी स्कूल का मतलब है बढ़िया स्कूल। अंग्रेज़ी स्कूल भी ऐसे अनंत है दिल्ली में जो मशरूम की तरह पनप रहे हैं, जिन स्कूलों के नाम भी गलत हैं, अध्यापक जो अंग्रेजी पढ़ाते हैं, वह अंग्रेज़ी गलत और जिन पुस्तकों को प्रयोग किया जाता है, वो गलत है, उन पुस्तकों का चयन होता है धन के आदान-प्रदान के आधार पर। पाठ्यक्रम का निर्माण होता है एक व्यक्ति गणित की पुस्तक भी लिख रहा है, क्योंकि वह बिकता है, क्यों बिकता है। उसके अपने कारण है, समाज वैज्ञानिक यह जानते हैं। तो अंग्रेजी और हिन्दी का प्रश्न यह नहीं है। यह प्रश्न है हम अपने हिन्दी स्कूलों के स्तर को ऊंचा उठाएं तब हिन्दी अंग्रेजी के समकक्ष आ जाएगी। उस विद्यालय का नाम है मेतवाल विद्यालय। कोई भी बिहार का व्यक्ति नहीं है जो न जानता हो।

श्रोता : मैं सिर्फ एक बात की ओर इशारा करना चाहता हूं, देखिए पिछले कुछ महीनों में, एक साल में लगा लीजिए, तमिलनाडु में अंग्रेज़ी जिस तरह से आई, बंगाल में जिस तरह से आई, वह दो और उदाहरण हैं जो यह बताते हैं कि भारतीय भाषाओं का महत्व घट रहा है, हवा किधर चल रही है, यह भाषा या हिन्दी का सवाल नहीं है।

राजेश्वर गंगवार : मैं भारतीय रिर्जव बैंक में हूं, क्योंकि प्रसंग ऐसा है, इसलिए मैं बताना चाहूंगा कि मेरा शोध का विषय हिन्दी जरूर रहा, हिन्दी भाषा रहा लेकिन हिन्दी विज्ञान कथाओं में वैज्ञानिक विश्लेषण, विज्ञान कथाओं को मैने विज्ञान की दृष्टि से देखा, विज्ञान के सिद्धांतों से देखा और आज तक यह शोध प्रबंध प्रकाशित नहीं हुआ है, यह जानकारी के लिए। दूसरी चीज यह कि हिन्दी के साथ जो सबसे बड़ा दुर्भाग्य है वह यह कि हिन्दी के विद्वान अपनी कविता, कहानी उपन्यास इत्यादि के साहित्य से निकल कर किसी अन्य विज्ञान का, विशेष रूप से प्राकृतिक विज्ञानों का, समाज विज्ञान का अध्ययन करना

नहीं चाहते हैं, न वे उन विषयों पर लिखना चाहते हैं। जो उन विषयों का अध्ययन करते हैं वे अंग्रेजी जानते हैं इसलिए वे अंग्रेजी में लिखते हैं और विरोधाभास यह है कि जिसे विषय आता है उसे भाषा नहीं आती, जिसे भाषा आती है, उसे विषय नहीं आता, इसलिए अच्छा लेखन हिन्दी में नहीं हो रहा है।

पूरन चन्द जोशी : अब जबकि यह थोड़ा गर्माने लगा है और प्रश्न आने लगे हैं और जो कुछ बिष्टजी ने और आनन्द कुमारजी ने कहा है, उससे एक तरह की प्रेरण मिली है, लेकिन समय अभाव के कारण यह बात सही है कि जिस विषय पर इस सत्र में चर्चा हुई, इस पर एक पूरी गोष्ठी हो सकती है, क्योंकि यह गंभीर विषय है। मैं केजरीवालजी से निवेदन करूंगा कि कभी इस पर विचार करें। यह विषय अपने में एक महासागर है, यह एक ऐसा विषय है जिसके कई पहलू हैं और आज उसकी शुरूआत हुई, लेकिन एक गंभीर गोष्ठी इस पर होनी चाहिए, जिसमें इस समस्या का 'डायगनोसिस' हमारा क्या है, क्या इसकी प्रकृति है और फिर इसका निदान क्या है इस पर भी विचार हो। क्योंकि बिना किसी व्यवहारिक क्रम के सिर्फ यह एक विचार संसार में लट्ठमारी होगी, समय कम है और मैं एक और भाषण आपको नहीं देना चाहता। जो बातें कही गई हैं, उनका अपना महत्व है। और बड़े मसले उसमें उठे हैं, एक परिदृष्य हमारे सामने है, लेकिन उसमें मुझे केवल दो तीन बातें कहनी हैं।

पहली चीज तो यह है कि समाज विज्ञान को लेकर भारतीय भाषाओं में और हिन्दी में कितना शोध हुआ है, कितना चिंतन हुआ है, इसका हमारे सामने कोई तथ्यात्मक आधार नहीं है। हिन्दी का तो इतना विशाल क्षेत्र है, तो कितनी पत्र-पत्रिकाएं निकलती हैं, निकली हैं, उनमें क्या इस विषय पर लिखा जा रहा है, लिखा गया है, या कितनी पुस्तकें लिखी गई हैं इन सबका एक सर्वेक्षण होना चाहिए, इस पर विचार होना चाहिए। अनुमानिक बातें बहुत है और यहां पर अनुभवी लोग बैठे हैं जो कह रहे हैं, वह महज अनुमान नहीं है, लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि तथ्यात्मक आधार के बिना किया हुआ अनुमान और निष्कर्ष जो हैं, वे बिलकुल सही होगें ऐसा नहीं होता। असल में समाज विज्ञान की एक सबसे बड़ी कमजोरी जो भारत की कमजोरी है और खासकर हिन्दी प्रदेश की कमजोरी तो है ही कि हमारा रूझान तथ्यात्मक बहुत कम होता

है। क्योंकि तथ्य बटोरने में खोजने में मेहनत पड़ती है। लेकिन 'स्पेक्यूलेट' करना बड़ा आसान होता है। लेकिन कमजोरी कहां आती है, अगर उनसे कहिए कि जरा सा इसका जितना तुमने कहा है, इसका 100 या 1000 भी तुम 'फैक्ट फाइंडिंग' से देखो कि 'व्हैदर दिस इज बोर्नआउट बाई फैक्ट्स आर नाट...' तो बड़े से बड़े चिंतक जो हैं, उनकी यह कमजोरी है। बल्कि एक किताब है, सोशल साइंस आउटलुक पर बरट्रैंड रसेल की, जिसमें उन्होने कहा है कि यह जो 'एंपिरिकल बेंट आफ माइंड' है, 'इनवेस्टिगेटिंग बेंट आफ माइंड' है, यह ऐसा नहीं कि हमेशा से रहा हो। खासकर बुद्धिजीवी वर्ग जो है, उनके मुकाबले में जो आम लोग हैं दे हैव टू डू मोर विद थिंग्स एण्ड लैस विद आइडियाज' एण्ड दि थिंकिंग क्लासेस हैव मोर टू डू विद दैट आइडियाज दैन दी थिंग्स" जब तक यह 'थिंग्स' और 'आइडियाज' के बीच का सेतु नहीं बनता, तब तक कोई उन्नत्ति नहीं हो सकती। और वैज्ञानिक उन्नत्ति का 'सीक्रेट' यही है कि 'कांसेप्ट शुड बी बेस्ड ऑन फैक्ट्स एण्ड इट शुड बी एक्सप्लोर्ड आन दी बेसिस आफ कांसेप्शन'। यह सिर्फ हिन्दी की समस्या नहीं है, हमारे यहां पर जो अंग्रेज़ी की पढ़ाई हो रही है और अंग्रेज़ी में शोध हो रहा है, अगर उसमें बड़ा मौलिक काम हो रहा होता तो हम कहते छोड़ो भाड़ में जाए हिन्दी, हम अंग्रेज़ी क्या बुरी चीज है। लेकिन अंग्रेज़ी के साथ अंग्रेज दुनिया की 'रियलटी' जुड़ी है, उनकी भाषा उनका भूगोल, उनका इतिहास, उनकी वास्तविकता उससे जुड़ी है। हमारा भूगोल, हमारी वास्तविकता, हमारे लिए एक नई भाषा की मांग करती है। जब तक आप उसी भाषा में करिए, एकदम आपको वही चीजें बनती हैं वो। तो 'लैंग्वेज इज नाट जस्ट ए सिंपल लैंग्वेज, लैंग्वेज इज ए रिप्रजेंटेशन आफ रियलिटी आलसो, इट इज रूटेड इन रियलिटी'। एक बड़े धुरंधर अर्थशास्त्री सुखमय चक्रवर्ती ने कहा कि अपने जीवन के अंतिम वर्षो में मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि हमने एक ऐसी टैक्स्ट बुक अर्थ शास्त्र की तैयार नहीं की, इतने अर्थशास्त्री हैं इतने संस्थान हैं, जिसको हम 'ओरिजनल' कह सकें, जिसको हम कह सकें कि 'दिस इज दी कांट्रीब्यूशन आफ इंडिया, दिस इज एन इंडियन टैक्स्ट बुक, वी ओनली समराइज दी वेस्टर्न टैक्स्ट बुक्स, अमेरिकन टैक्स्ट बुक्स' तो यह जिस संकट की हम बात कर रहे हैं यह भारतीय भाषाओं का संकट सिर्फ भारतीय भाषाओं का संकट नहीं है, यह समस्त भारतीय बौद्धिकता का संकट है। इस बौद्धिकता

के सकंट इन्होनें नवऔपनिवेषिक मानसिकता कहा। औपनिवेषिक मानसिकता पहले वाले लोग कहते थे कि हम सिर्फ उन्हीं की जूठन खाते हैं, बुद्ध ने कहा था, जो श्रुति ने कहा, स्मृति ने कहा, वेद ने कहा, वह सच है, इसको मत मानो जब तक तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारा विवेक इसको स्वीकार न करे तब तक उसको स्वीकार न करो। तो यह अस्वीकार का साहस समाज विज्ञान का जन्म है, वहीं से यह शुरू होता है।

तो सवाल यह है कि जब हिन्दी भाषा के संकट की बात कर रहे हैं जब हम अपने बौद्धिक संकट की बात कर रहे हैं कि आज़ादी मिलने के 50 साल के बाद भी हमको शायद थोड़ा बहुत आर्थिक स्वराज मिल गया, राजनीतिक स्वराज मिल गया, लेकिन हमें मानसिक स्वराज नहीं मिला। मानसिक रूप से अभी हम एक दासता से मुक्त नहीं हुए। अपने सोचने का साहस अब भी हमें नहीं मिला। आप बड़े से बड़े पंडित से लीजिए, वह दस 'अथारिटीज कोट' करेगा लेकिन मैं यह कह रहा हूं का साहस उसको नहीं है। मैं यह कह रहा हूं के साहस से समाज विज्ञान जन्म लेता है। समाज विज्ञान के लिए एक माहौल तैयार करने के लिए एक तरह की शिक्षा व्यवस्था की जरूरत है, तो यह सिर्फ हिन्दी का दुर्भाग्य नहीं है कि हिन्दी में हम नहीं लिखे, यह इस बात का है कि हमारा पूरा का पूरा जो बुद्धिजीवी समुदाय है उसकी जो बौद्धिकता है, अगर वह अंग्रेज़ी में कुछ 'ओरिजनल' कर रहा होता तब भी ठीक था, अंग्रेज़ी में तो फुटनोटिंग कर रहा है। वह जो और कर रहे हैं, उसमें फुटनोट लगाने में आपका नाम होता है, लेकिन उसके लिए उसे इस "रियलिटी" को 'एक्सप्लोर' करना होगा, क्योंकि यह एक बहुत जबरदस्त चुनौती है, कि दुनिया की 3/4 मानवता यूरोप और अमेरिका से बाहर है और इनकी समस्याओं का उत्तर अमरीकी और यूरोपीय बौद्धिकता में नहीं है। हमें अपने सवाल खुद पूछने हैं और अपने सवालों का उत्तर खुद देना है। उसी से समाज विज्ञान निकलेगा जो प्रामाणिक होगा। एक बार वह इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में गांधीजी गए थे अर्थशास्त्र पर बोलने के लिए तो किसी ने उनसे पूछा कि आपने एडम स्मिथ पढ़ा या मार्क्स पढ़ा, उन्होने कहा, यह कुछ नहीं पढ़ा, लेकिन एक चीज मैंने पढ़ी जो आपने नहीं पढ़ी। मैं सारे भारत में घूमा हूं और मुझे यह लगा है कि इसमें जो लिखा है, उसमें हमारी समस्याओं का समाधान नहीं है। और हमें उसका समाधान ढूंढना है, उसी से समाज विज्ञान निकलेगा,

धन्यवाद।

श्रोता : जोशीजी ने कहा कि जो 'थर्ड रेट' लोग होते हैं वे टैक्स्ट बुक लिखते हैं, जो अच्छे लोग होते है, वे नहीं लिखते। उसी बारे में मैं कहना चाहती हूं कि अगर हिन्दी को हम हिन्दी वाले सम्मान दिलाना चाहेंगे तभी उसे सम्मान मिलेगा। जैसे एक आदमी है वह अपनी पत्नी से कहता है कि तुम मेरी पत्नी हो, इसलिए आदर करो, रोज उसको जाकर पीटता है, तो उसका तो घर वाले कोई आदर नहीं करेंगे जब तक हम अपनी हिन्दी को खुद सम्मान दिलाने के लिए कोई कदम नहीं उठाएगें, तब तक यह कहना कि उसकी दुर्दशा हो रही है, उससे कुछ खास फायदा नहीं होगा। उसे सम्मान दिलाने के लिए हमें कुछ व्यवहारिक कदम उठाने पड़ेंगे कि लोगों को पता चले कि यह हिन्दी है। अगर हिन्दी वाले जाकर 'अंग्रेज़ी मीडिया' में हिन्दी में बात करेंगे इस तरह के कुछ व्यवहारिक कदम उठाएंगे तो मेरे ख्याल से जरूर हिन्दी को लोग समाज में इज्जत देना शुरू करेंगे।

पूरन चन्द जोशी : आशा है अगले दो सत्रों में कुछ मार्गदर्शन मिलेगा।

दूसरा दिन : तीसरा सत्र

ओम प्रकाश केजरीवाल : आप सब का इस सत्र में स्वागत है। दोनों सत्रों की अध्यक्षता के लिए, हमने गौरी शंकरजी से अनुरोध किया है कि वे इसकी अध्यक्षता करें। गौरी शंकरजी भूतपूर्व सांसद पत्रकार और लेखक हैं। आप लाओस और कंबोडिया में राजदूत भी रहे। अब आगे गोष्ठी का संचालन गौरी शंकरजी करेंगे।

गौरी शंकर राजहंस : केजरीवालजी की मेरे ऊपर बड़ी कृपा है। मैं अपने को विद्वान नहीं कह सकता हूं और विद्वान मण्डली के बीच में अपने को बहुत बौना समझता हूं। मुझे लगता है कि मैं गलत जगह आ गया, यह बात सही है कि मैं अमेरिका मे पढ़ा, *हिन्दुस्तान टाइम्स* में जनरल मैनेजर रहा, एडवाइजर रहा, उनका डायेक्टर रहा, फिर मैं पता नहीं कैसे राजीव गांधी ने मुझे टिकट दे दिया और मैं एम. पी. हो गया फिर हार भी गया। देश-विदेश के अखबारों में लिख रहा था कि अचानक पी. वी. नरसिम्ह रावजी ने मुझे बुलाया और कहा कि आपको मैंने राजदूत बना दिया है, लाओस का। मैने कहा मैं और राजदूत, मैंने तो कभी आपसे कहा ही नहीं कि आप मुझे राजदूत बनाइए।

उन्होने कहा कि, जो नहीं कहते हैं, उनको मैं बनाता हूं। तो कहा कि देखिए एक बात है कि एक बिहार के ही सज्जन थे, उनको आपसे पहले वाले प्रधानमंत्री ने कहा था कि गुजरात में वे गवर्नर हो गए, जब वे गुजरात गए तो वहां के गवर्नर ने कहा कि मैं तो हूं ही गवर्नर, मेरा कार्यकाल खतम नहीं हुआ हैं, आप कहां से आ गए, ऐसा न हो कि मैं जाऊं और वे कहें कि आप कहां से आ गए। उन्होंने कहा, नहीं-नहीं बना दिया है, यह बात सही है। तो मैं केवल आप लोगों से सुनने के लिए आया हूं और मैं बहुत कुछ जानता नहीं हूं। विदेशों में हिन्दी का जो प्रचार प्रसार या जो कुछ हो रहा है, उसके बारे में थोड़ा बहुत जानता हूं। तो पहले मैं वक्ताओं को सुन लूं, फिर मैं अपने विचार रखूंगा,

आलेख पाठ : राजेश्वर गंगवार

चर्चा

श्रोता : आपने आलेख में कहा कि पलायन पर रोक लगानी चाहिए, धन का कैसे होगा।

राजेश्वर गंगवार : जब प्रतिभा पलायन पर रोक होगी ...

श्रोता : प्रतिभा पलायन तो ठीक है, लेकिन उसके बाद जव वहां बाहर चले जाएंगे तो धन का पलायन तो ....

राजेश्वर गंगवार : वह रूकेगा । वह इसलिए कि वह जो चीज वहां बना रहे हैं, वह चीज देश में बनाएंगे। आप वहां से खरीदने के लिए विवश नहीं होंगे, इसलिए धन के पलायन पर रोक लगेगी।

श्रोता : उधर से जो पैसा कमाएगा, वह भी तो भेज सकता है।

राजेश्वर गंगवार : वह पैसा अगर एक लाख डालर भेज रहा है तो आप उसके बदले में दो लाख डालर की चीज खरीद रहे हैं, यह चक्कर है।

श्रोता : वहां से जो पैसा भेजेगा तो भारत में ही आएगा न पैसा।

राजेश्वर गंगवार : वह आ रहा है मैं मानता हूं लेकिन मैंने कहा जितना वह भेज रहा है, उससे कहीं ज्यादा की उसकी बनाई हुई चीज को खरीदने में खर्च कर रहे हैं। उसके शब्दों में कहा जा सकता है कि उस प्रतिभा तक पहुंचने के लिए उस पर जो खर्च हुआ, वो एक 'वैस्टफुल एक्सपेंडिचर' होगा। इस तरह

से पलायन न हो सके और उसके उपर जो "इनवेस्ट" हुआ, वह बेकार गया। वो भी और जो तैयार माल आपने खरीदा, उससे ज्यादा पैसे लगे। मैं आपको बता रहा हूं न कि 'माइक्रो साफ्ट' में अरबों डालर गया है, वह इसलिए कह रहा हूं कि कई करोड़ डालर का खर्चा सिर्फ रिजर्व बैंक का है तो पूरे देश का तो...

गौरी शंकर राजहंस : मैं दो एक बातें कह कर फिर अगला सत्र शुरू करता हूं। मैं हिन्द-चीन के दो देशों में राजदूत था। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी किताब *ग्लिम्पसिस आफ वर्ल्ड हिस्टरी* में लिखा है कि या हिन्दचीन में धर्म और संस्कृति ज्यादा भारत से गई। इसका मैंने बहुत अच्छा वर्णन कहीं पढ़ा कि 2500 साल पहले एक बौद्ध भिक्षु बर्मा थाइलैंड, जो उन दिनों 'श्याम' कहलाता था, होकर मेकाऊं नदी नाव से पार कर फिर लाओस गए। फिर कंबोडिया गए, फिर वियतनाम गए, हिन्दचीन के तीन देश हैं, लाओस, कंबोडिया और वियतनाम। मेकाऊं नदी अदभुत नदी है। जब मेकाऊं नदी के किनारे हमारे बौद्ध भिक्षु आज से 2500 साल पहले या 2000 वर्ष पहले गए तो उसे देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। और बाद में ये हिन्द चीन के तीनों देश फ्रांसीसियों की बन गए और उन्होनें मां गंग इसका अपभ्रंश करके मेकांग नाम रख दिया। हूबहू देखन में गंगा की तरह की वह नदी है, तिब्बत से निकलती है, बर्मा, थाईलैंड, लाओस, कंबोडिया, वियतनाम में जाकर समुद्र में मिल जाती है, अद्भुत नदी है, इसके बारे में भारत में लोगों को ज्ञान नहीं है। एक और बात में बताऊं कि ये बौद्ध भिक्षु जो आज से 2000 साल पहले गए, वे अपने साथ बौद्ध धर्म ले गए और आज भी लाओस में वहां की राजकीय भाषा पाली है। यह आपको नहीं मालूम होगा। पाली जोकि भारत से बहुत पहले समाप्त हो गई, जिसमें कि भगवान बुद्ध ने अपना उपदेश दिया था, लाओस में आज भी वहां की राजकीय भाषा पाली है। इन सारे देशों में मुख्य धर्म बौद्ध धर्म है। कभी आप मौका देंगे तो मैं इसके बारे में विस्तार से बताऊंगा, मैं अभी आपका समय नहीं लेना चाहता हूं, लेकिन सांस्कृतिक हेलमेल तो हमारा दो ढाई हजार साल पहले से ही था, मैं कंबोडिया में राजदूत था, कंबोडिया में जो हिन्दू मंदिर है, अंकोरवात का वह दुनिया में सबसे बड़ा हिन्दू मंदिर है, वैसा भारत में नहीं है, आपको जानकर आश्चर्य होगा। उसके बनने में 100 साल लगे थे। भारत के कारीगरों ने बनाया था। वह बहुत अद्भुत है, लोग कहते हैं कि सात आश्चर्यों

में एक आश्चर्य है। जब तक आप इसे देखेंगे नहीं, तब तक आप समझ नहीं पाएंगे कि कैसा मंदिर है। तो यह अपने समय में चलता रहा होगा, उस समय जो भाषा रही होगी संस्कृत, पाली या जो भी रही होगी, उसमें लोग आना-जाना करते होंगे, बातचीत करते होंगे। मेरे कहने का एक अर्थ है, बहुत विनय के साथ कहना चाहता हूं मुझे गलत नहीं समझेंगे, विदेशों में कई देशों में मै रहा, विद्यार्थी जीवन में अमेरिका में रहा, आप यदि केवल अंग्रेज़ी का दुश्मन बनाकर हिन्दी पक्ष को मजबूत करेंगे तो वो शायद नहीं हो पाएगा। एक कहावत है 'इन रोम डू एज रोमनस डू', हम हिन्दी को मजबूत जरूर करना चाहते हैं, हम हिन्दी को आगे बढ़ाना चाहते हैं, लेकिन सारी दुनिया में अंग्रेजी छाई हुई है एक सिद्धातं है *कोएगजिस्टेंस* का, साथ साथ चलें, आप भी फलें मैं भी फलू-फुलूं और दोनों मिलकर आगे बढ़ सकते हैं मैं एक आपको व्यवहारिक बात बताता हूं। बिहार में कुछ मुख्यमंत्री हुए, मैं नाम नहीं लूंगा, उन्होंने कहा, अंग्रेज़ी को एकदम समाप्त करो, हिंन्दी में सब कुछ होगा। नतीजा यह हुआ कि वहां पर नौकरियां समाप्त हो गई और वे लोग जब नौकरी के लिए दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई में गए तो एम. ए. पास लड़कों को चपरासी की नौकरी भी नहीं मिली। वे आज भी दिल्ली में रिक्शा चला रहे हैं, बिहार के फर्स्ट क्लास एम. ए. पास लड़के। आपने अपने को तो थोड़ी देर के लिए बहुत लोकप्रिय बना लिया, लेकिन लोगों के भविष्य को तो समाप्त कर दिया।

दूसरी तरफ नौकरशाह हैं, वह बहुत होशियार हैं, वे अपने लड़कों को दूसरे राज्यों में, या दिल्ली भेजकर आराम से कानवेंट स्कूल में पढ़ाया और वे आज राज कर रहे हैं। राजनेता तो अरब पति हो गए, उन्होंने लूट लिया और चले गए जनता को बेवकूफ बनाया, हिन्दी पढ़ो, हिन्दी पढ़ो और अपने बाल बच्चों को अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ाया, विदेशों में भेजा सब कुछ किया। सारी दुनिया घर से लेकर सारा संसार एक छोटे से सिद्धांत पर चलती है, 'सप्लाई एण्ड डिमांड', यदि उसको माल की जरूरत है तो वह भाषा के लिए आपके पास थोड़े ही इंतजार करेगा। हमारे जैसे देने वाले हजारों लोग है लाखों लोग हैं और विश्व बाज़ार में हमारी कोई हैसियत ही नहीं है। वह कहेगा चलो दूसरी जगह जाते हैं, दूसरी दुकान में देखते हैं। विदेशों में जब मैं राजदूत था तो लोग कहते थे कि हम हिन्दुस्तान के साथ व्यापार करना चाहते हैं, इसलिए कि वहां पर हमें दिक्कत नहीं होगी, वहां पर लोग अंग्रेज़ी समझते हैं। और देशों में नहीं

समझते। चीन ने तो बहुत गजब ही कर दिया, आग्रे बढ़ गया। तो मैं यह कहूंगा, मेरा निवेदन है कि यह आन्दोलन कभी नहीं बनाइए कि अंग्रेज़ी समाप्त करो, हिन्दी लाओ। अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी को भी लाओ, बस इतना ही मैं निवेदन करना चाहता हूं।

आलेख पाठ : असगर वज़ाहत तथा विमलेश कांति वर्मा

चर्चा

गौरी शंकर राजहंस : अब प्रोफेसर अजगर वजाहद साहब जो प्राध्यापक हैं हिन्दी विभाग जामिया मिलिया इस्लामिया में, वे अपना आलेख पढ़ेगें। आपने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से पी. एच डी. हिन्दी एवं उर्दू प्रगतिशील कविता का तुलनात्मक अध्ययन 1936-1950 पर की है। आप सृजनात्मक लेखन से विशेष रूप से जुड़े हैं जिनका विभिन्न भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ है। आपकी सिनेमा एवं इलेक्ट्रॉनिकस मीडिया में भी रूचि रही है। एक लेखक के रूप में स्वयसेवी संस्थाओं से जुड़ कर समाज कल्याण के क्षेत्र में हमेशा योगदान देते रहे हैं।

असगर वजाहत : अपना बहुत संक्षिप्त पर्चा आपके सामने रखने से पहले एक दो बातें और कहना चाहूंगा, पहली बात तो यह है कि पिछले सत्र में अध्यक्ष महोदय ने भाषा सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किए उनको सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई और हम सब यह मानते हैं कि हिन्दी के विकास के लिए एक ऐसा रास्ता अपनाना चाहिए जो सहयोग और मैत्री का हो। और जिससे दूसरी भाषाओं के साथ हमारा तालमेल बने और हम आगे बढ़ें। दूसरी बात में यह कहना चाहूंगा कि यह पर्चा जो में आपके सामने प्रस्तुत करने जा रहा हूं, यह मैंने कुछ अपने निजी अनुभवों के आधार पर लिखा है। मैं आई.सी.सी.आर. के माध्यम से हंगरी में हिन्दी पढ़ाता था, मध्य यूरोप के देश में और उसी समय में पश्चिमी यूरोप के देशों में और उत्तरी अमरीका में भी गया और वहां हिन्दी विभागों और उन लोगों से मिला जो वहां हिन्दी पढ़ते पढ़ाते हैं। उसके आधार पर जो कुछ मैंने वहां देखा और जाना, वो मैं चाहता हूं कि आपके साथ बाटूं।

आलेख पाठ : विमलेश कांति वर्मा

गौरी शंकर राजहंस : अभी आपने दोनों प्रसिद्ध विद्वानों को सुना। आपके कोई प्रश्न हों तो दोनों से अलग-अलग कर लें।

ओम प्रकाश केजरीवाल : मेरी एक छोटी सी टिप्पणी है। छोटा मोटा पर्चा ही समझिए, लेकिन ज्यादा समय मैं नहीं लूंगा। इस दो दिन की गोष्ठी से हमको ऐसा लगा कि इसने एक आईने का काम किया है। हमें अपनी कमजोरी का अहसास दिलाया है, जो सही स्थिति है, वह हमारे सामने रखी है, लेकिन ऐसा कोई ठोस मार्गनिर्देशन किसी आलेख में नहीं आया जिससे हिन्दी को शक्तिशाली बनाया जा सकता हो। कहते हैं कि हिन्दी को बढ़ाने के लिए हमें दृढ़ निश्चय करना चाहिए और संकल्प करना चाहिए। उदाहरण के रूप में मैं एक छोटी सी बात कहना चाहूंगा, शंकर दयाल सिंहजी जब राजभाषा समिति के अध्यक्ष थे तो मैंने उनसे एक दिन कहा कि आप 10 आदमियों की टीम बनाइए एक चैनल का 9 या 10 मिनट का टाइम बांध लीजिए। हर आदमी की जिम्मेदारी होगी कि उस बीच उसके समाचार सुने और उसमें भाषा की जो गलतियां हैं, उसको नोट कर ले और फिर अपनी 'फाइंडिंग्स', उस चैनल को दें। जी चैनल हमारी बात न सुने, स्टार न सुने, दूरदर्शन को तो सुनना पड़ेगा, क्योंकि सरकारी तंत्र है। उसी तरह से अगर कोई दिल्ली में जो बसें चलती हैं, उनके पटल पर क्या लिखा जाता है। केन्द्रीय आपको पांच तरह से लिखा मिलेगा, टर्मिनल आपको दस तरह से लिखा मिलेगा, उसकी एक सूची बना दें और संबद्ध विभाग को दें तो कम-से-कम सरकारी तंत्र तो सुधरेगा।

एक रहस्य मुझे आज तक बिलकुल समझ नहीं आया। 30-40 करोड़ जनता हिन्दी बोलती है, लेकिन सुनते है कि हर प्रकाशक रोता है कि हिन्दी में छपी किताब का 1,000 का भी संस्करण नहीं बिक रहा हैं। आज विभिन्न विषयों कैमिस्टरी, रसायन शास्त्र, भूगोल और खगोलशास्त्र, में हिन्दी की कृतियां रची जानी चाहिए, किसी ने खगोलशास्त्र पर हिन्दी में एक किताब लिखी और उसकी दो लाख कृतियां बिक गईं, तो वह अगली किताब लिखेगा कि नहीं और क्या हिन्दी में उस विज्ञान का और उस विधा का विकास होगा कि नहीं, यह मैं जानना चाहता हूं। अगर एक बार हो गया, फिर हिन्दी की प्रगति को कोई नहीं रोक सकेगा।

आखिर में मैं कहना चाहूंगा जो मैंने पहले भी कहा था, कि चार-पांच लोगों का एक छोटा सा ग्रुप बैठकर विचार करे कि भाषा का सरलीकरण कैसे हो, भाषा की उपादेयता कैसे बढ़ाई जाए। विमलेशजी ने कहा मानकीकरण क्यों नहीं हो पा रहा है, हो सकता है क्योंकि सरकारी तंत्र उतने प्रभावशाली नहीं हैं, मैंने

पिछली शताब्दी में जो हमारी गोष्ठी हुई थी 1999 में, उसमें कहा था कि हिन्दी राजभाषा समिति किस तरह का काम कर रही है, आलोचना के रूप में नहीं बल्कि यर्थाथ के रूप में, हमारे एक मित्र जो एक विभाग प्रमुख थे वहां जांच के लिए आए और राजभाषा समिति रिपोर्ट बहुत खराब दे दी, क्योंकि उन्होंने कहा कि हमें काजू आपने नहीं खिलाया। हिन्दी की रिपोर्ट एकदम खराब कर दी गई, अब बेचारा मुसीबत में पड़ गया। तो यह तो खैर बड़े-बड़े लोगों की बात है, पर छोटे स्तरों पर भी प्रयास होने चाहिये कई साल पहले की बात है, अगर आपको याद होगा, शास्त्री भवन में हम लोग जाते थे राजेन्द्र प्रसाद रोड का मार्गनिदेश, पर राजेन्दर प्रसाद रोड लिखा हुआ था। फिर हमने एक पत्र अखबार में 'लैटर टू दी एडिटर' में लिखा कि यह राजेन्दर प्रसाद रोड का क्या मतलब है, मैं विश्वास करना चाहूंगा कि उस पत्र के कारण ही सुधार हुआ। इन छोटी-छोटी बातों से भी अगर हम शुरू कर दें तो मैं समझता हूं बहुत फर्क पड़ेगा।

श्रोता : अभी डा. केजरीवाल साहब ने टिप्पणी की कि कोई सुझाव नहीं दिया, मुझे लगता है, मैं क्षमा प्रार्थी हूं, कि मैं अपनी बात उन तक नहीं पहुंचा सका। मैंने अपनी अंतिम स्लाइड में तीन सुझाव दिए थे और तीनों ही व्यावहारिक हैं। उसमें मैने यह कहा कि हिन्दी के विद्वान यह तय कर लें कि हिन्दी साहित्य से हटकर किसी अन्य विषय का अध्ययन भले ही अंग्रेज़ी में करें, लेकिन लिखेगें हिन्दी में दूसरा सुझाव मैंने यह भी दिया था कि हिन्दी विश्वविद्यालय जैसी संस्थाएं हिन्दी साहित्य पर शोध बहुत हो चुका, अन्य विषयों पर हिन्दी माध्यम से शोध कराएं। क्या आप बता सकते हैं सापेक्षता सिद्वांत या उपग्रह संचार प्रणाली के सैद्धांतिक पक्ष पर और उसके व्यावहारिक पक्ष पर कहीं कोई पुस्तक है? क्या हिन्दी विश्वविद्यालय जैसी संस्था या विश्वविद्यालयों का यह दायित्व नहीं है कि वे उस तरह के साहित्य का सृजन करें। मुझे दोहरानी पड़ी बात क्योंकि आपने टिप्पणी की थी कि कोई सुझाव नहीं आया।

ओम प्रकाश केजरीवाल : काश पंकजजी रहते यहां पर तो आपको बताते कि हिन्दी विश्वविद्यालय की क्या स्थिति है। हिन्दी के विद्वान क्यों नहीं अंग्रेज़ी में पढ़ते हैं और हिन्दी में लिखते हैं? जैसा हमने कहा कि अगर उनकी किताब की प्रति एक लाख बिकती है, तब वे प्रेरित होगें, वरना कोई नहीं लिखेगा।

श्रोता : ऐसा नहीं है हमने... का परिभाषा कोष निकाला, तीन हजार प्रतियां छापीं आज हमारे पास 100 प्रतियां भी नहीं होंगी उसमें से बाकी सारी प्रतियां बिकी है, बिना किसी प्रचार के, बिना किसी विज्ञापन के। ऐसा नहीं कि आप कोई अच्छी चीज लिखेगें हिन्दी में तो वह बिकेगी नहीं, अगर उसकी उपयोगिता है तो वह अवश्य बिकेगी।

प्रकाशक नहीं छापता है तो आप अपने खर्चे से छापिए, अपनी संस्था के माध्यम से छापिए। आपके नेहरू पुस्तकालय का ही उदाहरण अगर आपको दूं तो यहां पर जो आपने बाहर अलमारी में पुस्तकें सजा रखी हैं, सिर्फ एक पुस्तक हिन्दी में मिली वह भी पिछली संगोष्ठी का संकलन है बाकी सारी पुस्तकें अंग्रेज़ी में हैं। मैने उन विषयों को देखा, उनमें से 80 फीसदी विषय ऐसे हैं, जिन पर यहां बैठे हुए कई विद्वान पुस्तक लिख सकते है, लेकिन लिखते नहीं हैं।

श्रोता : हिन्दी की एक छप भी गई, अभी तक तो कभी छपी ही नहीं थी। चलो शुरूआत के लिए बधाई, इन्होंने शुरूआत तो कराई।

ओम प्रकाश केजरीवाल : दूसरी भी छप गई है कल ही उसका विमोचन हुआ है।

आर. एल. भगत : विदेशों में हिन्दी कितने विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है, इसकी जो सूची विदेश मंत्रालय ने मुझे दी थी, उसमें 147 विश्वविद्यालय है, लेकिन इसके अलावा बहुत और भी, उनमें विभिन्न कालेजों की संख्या नहीं है, विभिन्न संस्थाओं की संख्या नहीं है और कितने निजी संस्थान है, विदेश में जो हिन्दी पढ़ते हैं। और विदेश मंत्रालय के जो हिन्दी के प्रवक्ता है, भगत जी यहां बैठे हुए हैं, कुछ तो ज्यादा अच्छा है।

श्रोता : संख्या तो आपने बता दी, उसके साथ 96 देश हैं जहां हिन्दी पढ़ाई जाती हैं। डा विमलेश कांतीजी ने जो लेख पढ़ा विदेशों में हिन्दी के मामले में वह अपने में बहुत ही अच्छा गहन अध्ययन किया हुआ है। उन्होने बहुत बारीकी से लिया है और जहां तक विदेशों में हिन्दी पठन पाठन की बात है, हमारे केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा, यह विदेशियों को छात्रवृत्ति देकर यहां पर बुलाते हैं, 50 विदेशी छात्र हर साल यहां आते हैं और उनको हिन्दी सिखाई जाती है और आदान-प्रदान जरूर होता है, परंतु जिस हालत में केन्द्रीय हिन्दी

संस्थान आगरा है, इतनी दयनीय स्थिति है कि वे हमारी एक अच्छी 'इमेज' लेकर नहीं जाते।

दूसरा हिन्दी के प्रति जो हमारा अपना दृष्टिकोण है, नकारात्मक है। हमें अपने दृष्टिकोंण को बदलना होगा, उसे सकारात्मक बनाना होगा, तभी हिन्दी होगी। साहित्यकार जो थोड़ा बहुत लेखन का काम करते हैं, दूरदर्शन पर जो हिन्दी आती है, वे उसको हिन्दी मानने को तैयार नहीं। जो सिनेमा में हिन्दी चलती है, वे उसको मानने को तैयार नहीं कि वह हिन्दी है। इस तरह से हम हिन्दी को अलग अलग करते चले जाएंगे तो हिन्दी है क्या? सबसे बड़ा प्रश्न आता है कि हिन्दी है क्या? क्या साहित्यिक हिन्दी ही हिन्दी है? आम बोलचाल की हिन्दी हिन्दी नहीं है। सरकारी तंत्र होने की वजह से, राजभाषा होने का हिन्दी को सबसे बड़ा जो नुकसान हुआ कि हिन्दी केवल अनुवाद की भाषा होकर रह गई। अनुवाद की अपनी सीमा है। उसमें वैज्ञानिक शब्दावली आयोग द्वारा जो शब्द गठित किए गए हैं उनके द्वारा जो 'टर्मिनोलोजी' तैयार हुई है, जो वह भारत सरकार ही नहीं अपना रही है तो दूसरे लोग क्यों उसे प्रयोग में लाएंगे। ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जिनका हल हमको सकरात्मक तौर पर सोचकर ढूंढना है, तभी हिन्दी का प्रचार, प्रसार और विकास हो सकता है। हम सकारात्मक दृष्टिकोण की इसलिए बात करते हैं कि हम जो हिन्दी के कार्य में लगे हुए हैं, दूसरे की टांग खींचते हैं। डा. कृष्ण कुमारजी ने कल कहा कि विदेश मंत्रालय में जो पुस्तकों की खरीद की जाती है या विदेशों में आयोजन किए जाते है, सब बेकार है, इसकी कोई आवश्यकता नहीं। हिन्दी का प्रचार प्रसार तो अपने में एक हवन है, हर आदमी उसमें आहुति डाले, जो जिसकी सामर्थ्य है, जो जैसा है करे तब तो उसका प्रचार-प्रसार होगा। आपस में ही एक दूसरे की इस तरह से टांग खीचने से, यही एक सबसे बड़ा कारण में समझता हूं हिन्दी का प्रचार प्रसार और विकास नहीं हो पा रहा है। तो हमें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

आर. एल. भगत : मैं कहना चाहता था, प्रो. केजरीवाल ने जो टिप्पणी की वह ठीक है कि हिन्दी की समस्याओं के बारे में हम बातें करते हैं और दृढ़संकल्प और ऐसे जो अभिव्यक्तियां है, उनका प्रयोग करते हैं, लेकिन कठिनाई यह है कि कुछ चीजें जो हैं वे बिल्कुल स्पष्ट हैं। सरकार भी जानती है, हम भी जानते हैं और सारे लोग उसको जानते हैं कि स्थिति क्या है जैसे वैश्वीकरण

के परिप्रेक्ष्य में जो मूल भित्ति है, वह भाषा शिक्षण है। विश्व में हिन्दी कैसे प्रचारित होगी, आप लोगों को लिखाइए, तभी तो प्रचारित होगी। सिखाया कैसे जाए, ऐसा नहीं कि हम जानते नहीं हैं, लेकिन भारत में दिल्ली में जितने भी विदेशियों को हिन्दी शिक्षण के पाठ्यक्रम दिल्ली विश्वविद्यालय के रहे हैं, चाहे अमेरिकन सेंटर फार इंडियन स्टडीज हो, चाहे मैक्समूलर भवन हो, चाहे दिल्ली विश्वविद्यालय हो, सबसे मैं बहुत लंबे समय से जुड़ा रहा, जब इन कार्यक्रमों की शुरूआत हुई। लेकिन मैंने यह देखा कि इन संस्थानों में तो जो हिन्दी पढ़ाई जाती है, उसमें हिन्दी पढ़ाने का माध्यम हिन्दी ही है। वजाहत जी इसके गवाह हैं कि हंगरी में भी हिन्दी हिन्दी के माध्यम से ही पढ़ाई जाती है। बल्गारिया में हिन्दी हिन्दी माध्यम से पढ़ाई जाती है। रोमनिया में हिन्दी हिन्दी के माध्यम से पढ़ाई जाती है, लेकिन भारतवर्ष में जहां कि हिन्दी अपनी है, हिन्दी अंग्रेज़ी के माध्यम से पढ़ाई जाती है। दिल्ली विश्वविद्यालय में कभी जाकर देखें हिन्दी का पाठयक्रम जो विदेशियों के लिए है, कैसे चलता है, उसको पढ़ाने का जो माध्यम है वह अंग्रेज़ी है और अंग्रेज़ी हमें ठीक से आती नहीं है। हमने उस भाषा को माध्यम बनाया है, अपनी भाषा सिखाने का, जो हमें खुद नहीं आती। परिणाम क्या होता है जो पोलैंड का विद्यार्थी यहां सीखने आता है, वह सोचता है कि हम पहले अंग्रेज़ी सीख लें, तब हिन्दी सीखेंगे। जो रोमानिया का पढ़ने आता है, वह सोचता है पहले हम अंग्रेज़ी सीख लें, तब यहां से हिन्दी सीखेंगे। परिणाम शून्य होता है, वह हिन्दी कभी नहीं सीख पाता, वह अपने देश में जाकर दिल्ली विश्वविद्यालय का विरोधी बन जाता है। वह कहता है हिन्दी सिखाई जाती है अंग्रेज़ी माध्यम से तो पहले हमें अंग्रेज़ी सिखा दीजिए आप। भाषा की अपनी पद्धति है, अपनी विशिष्टता है। आज सारे विशव में 'सजैस्टोपीडिया' का जो 'सिस्टम' है, उसका 'पेंटेंट' करा रखते है लेकिन भारत में *सजैस्टोपीडिया* के *सिस्टम* के बारे में लोगों ने सुना भी नहीं है। ऐसा नहीं कि सामग्री उपलब्ध नहीं है, हम जब अंग्रेज़ी के माध्यम से पढ़ा रहे है, अमेरिका की पुस्तकें उपलब्ध हैं, क्योंकि वहां की तो भाषा अंग्रेज़ी है। तो हम काहे हिन्दी भाषा के माध्यम से पढ़ाएगे। भाषा शिक्षण की अपनी टेक्नीक है, लेकिन हमने उसको इतना हल्के से लिया है कि हमने कभी भाषा शिक्षण के प्रतिक्षकों के शिक्षण की बात नहीं सोची। जो पढ़ाते हैं, उनके भी शिक्षण की आवश्यकता है, तभी यह कार्य होगा।

असगर वजाहत : डा केजरीवाल ने व्यावहारिक सुझाव की बात कही है कि व्यावहारिक सुझाव यहां नहीं रखे गए। मैं विनम्रता से यह कहना चाहूंगा कि जितनी बातचीत यहां हुई, उसमें से निकलकर दसियों व्यावहारिक सुझाव सामने आए। यही नहीं आए बल्कि दूसरे स्थानों पर भी यानी राजभाषा समिति में भी जो मीटिगें होती हैं वहां भी उभरकर व्यावहारकि सुझाव सामने आते हैं कि इन में काम किया जाना चाहिए, इन पर काम करना आवश्यक है। लेकिन स्थिति ऐसी है कि सारे सुझाव आने के बाद भी काम नहीं हो पाता है और काम जहां का तहां रहता है। जहां तक व्यक्तिगत निष्ठा के कारण काम करने की बात है, वह हममें से बहुत लोग कर रहे हैं, करते है। छोटे-छोटे संस्थान हैं, विश्वविद्यालय के विभाग है, जैसे जामिया का हिन्दी विभाग जो है, वह जनसंचार लेखन में मीडिया राइटिंग में हिन्दी को आगे बढ़ा रहा है। टी.वी. पत्रकारिता का हम लोगों न कोर्स खोला, लेकिन आज स्थिति यह है कि इस तरह के अलग-अलग किए जाने वाले प्रयासों से जो छोटे स्तर पर किए जाते हैं, कोई बड़ी बात निकलकर सामने आने वाली नहीं है। किसी तरह का 'कोआर्डिनेशन' नहीं है, मतलब हिन्दी विश्वविद्यालय क्या कर रहा है, राजभाषा समिति क्या कर रही है, विश्वविद्यलयों का क्या काम है, जो अनुवाद के विभाग हैं उनका क्या है, उनके बीच में कहीं किसी तरह का कोई तारतम्य नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि यह सब जिस काम को सही समझते हैं, उसको अपने तौर पर किए जा रहे हैं और जो बहुत ही महत्वपूर्ण और मूल बातें हैं वे नहीं हो रही हैं, क्योंकि उनके पीछे मेहनत लगती है। उनके पीछे बहुत श्रम करना पड़ता है और आदत कुछ हमारी ऐसी बन गई है कि हम बात करते हैं, सुझाव आते है, हम मान लेते हैं कि बहुत सही सुझाव हैं, बहुत अच्छे सुझाव हैं लेकिन उनके उपर करने के लिए बड़ी कमी है, इसके बारे में एक गोष्ठी करनी चाहिए और यह सोचना चाहिए। निश्चितरूप से ऐसा नहीं है कि साधनों की कमी है, ऐसा नहीं है कि लोगों की कमी हैं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। 'कोआर्डिनेशन', इच्छा शक्ति और एक समयबद्ध योजना, इतने समय में यह काम करना हैं, इसकी जरूरत है। बहुत छोटा सा उदाहरण दूं, हंगरी की पूरी आबादी दिल्ली के बराबर है, लेकिन हंगेरियन भाषा में आप किसी तरह के ज्ञान-विज्ञान के बारे में कोई पुस्तक ढूंढिएगा, आपको मिल जाएगी। तो उनके यहां जो अकादमियां है, लगातार शब्दकोष, विश्वकोष, साहित्यकोष बना रहे

हैं। जब मैं वहां था तो उनका जो साहित्यकोष है, उसका 24वां खण्ड छापने जा रहे थे और यह कह रहे थे कि यह तो अभी बीच में है, कम से कम 60-70 खण्ड इसके छपेगें। तो अगर आप हंगेरियन भाषा जानते हैं तो विश्व साहित्य के बारे में आपकी कितनी अच्छी जानकारी हो सकती है, आपके पास समग्री है। हमारे यहां हिन्दी पढ़ने वाला विश्व साहित्य के बारे में जानना चाहे तो उसको क्या मिलेगा, कुछ नहीं मिलेगा, कुछ छुटपुट चीजें मिलेंगी। तो मुख्य बात यह है कि किस प्रकार से हम काम करें, काम करने की योजना को कैसे बनाएं और जिम्मेदारी लेकर और समय के अंदर उस काम को कैसे पूरा करें, यह मुख्य बात है।

गौरीशंकर राजहंस : डा. केजरीवालजी और दोस्तों, आज की चर्चा बड़ी सार्थक रही, प्रो. असगर वजाहद साहब ने और डा विमलेश कांति वर्माजी ने अपने विचार रखे, उसके पहले भी विचार रखे गए। मैं आपका अधिक समय नहीं लूंगा। दो तीन बातें कहना चाहता हूं।

मैं मीडिया से काफी अरसे से जुड़ा रहा हूं *हिन्दुस्तान टाइम्स* से तकरीबन 1971 से लेकर 1992 तक 20-21 वर्ष तक रहा हूं और मैने मीडिया के बदलाव को देखा है। दो एक छोटी-छोटी बातें आपको बताउंगा। *हिन्दुस्तान टाइम्स* से दुर्भाग्यवश *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* बंद हो गया, बहुत अच्छी पत्रिका थी, वह एक गलत फैसले के अंदर बंद हो गयी। उसी तरह *धर्मयुग* बंद हो गया। लेकिन जब मैं *हिन्दुस्तान टाइम्स* में आया था तो *दैनिक हिन्दुस्तान* की मुश्किल से एक लाख कापी बिकती थी। कुछ दिनों के बाद वहां के संयुक्त संपादक की बिदाई हो रही थी, उन दिनों वहां पर हिन्दी के पत्रकारों को अंग्रेज़ी के पत्रकारों की तुलना में करीब-करीब एक चौथाई तन्ख्वाह मिलती थी। और सभी वाचस्पति, शास्त्री उपाध्याय जैसे लोग रहते थे, कुछ आधा पढ़ा, कुछ आधा नहीं पढ़ा, प्रूफ रीडर से बढ़ते बढ़ते आगे बढते गए। तो मुझे एक घटना अभी भी याद है, एक संयुक्त संपादक की बिदाई हो रही थी, तो उनके एक सहयोगी ने कहा कि ये बहुत अच्छे व्यक्ति थे, मेहनत करते थे रददी भी नहीं चुराते थे और रस्सी भी घर नहीं ले जाते थे। मैं यह सुनकर अवाक रह गया और सारे लोग हंस पड़े, जिनकी बिदाई हो रही थी वे नाराज हुए, तो उस सज्जन ने कहा क्षमा करें मैं गलती से कुछ कह गया, बात है कि इसके पहले जो सज्जन थे वे यही काम करते थे। उनके घर का खर्च नहीं चल सकता था,

इसलिए शाम को जाते वक्त 10-20 अखबार धीरे से अपने झोले में डाल लिया और कुछ रस्सी वस्सी भी डाल ली और चले जाते थे। तब से आज की दुनिया में बहुत फर्क आ गया है। वहां पर चाहे जो भी कारण रहा हो, पूरे देश में बड़े अखबारों में जो अंग्रेज़ी के अखबारों के संपाकदकों की तन्ख्वाह है, करीब-करीब वही हिन्दी के अखबारों के संपादकों की तन्ख्वाह है। सुविधा है, गाड़ी है, ड्राइवर है, टेलीफोन है। आज से 20 साल पहले सोच नहीं सकते थे कि हिन्दी के किसी अखबार के संपादक की तन्ख्वाह एक लाख रूपए होगी, आज है। *हिन्दुस्तान टाइम्स* में ही नहीं सब जगह है, *टाइम्स आफ इंडिया* में हैं और भी अखबारों में हैं। मानसिकता बदल रही है।

एक दूसरा उदाहरण मैं आपको बताता हूं। जब मैं *हिन्दुस्तान टाइम्स* में था तो मुझे कहा जाता था कि जो कुछ रेवेन्यू आता है, पैसा आता है, *हिन्दुस्तान टाइम्स* से आता है, *हिन्दुस्तान* से नहीं आता, साप्ताहिक *कादंबिनी, हिन्दुस्तान* बेकार अखबार है, इसको धीरे-धीरे बंद कराइए। मैंने कहा मुझे एक प्रयोग करने दीजिए। आज उसकी 5 लाख कापियां बिक रही हैं। पैसा तो पंजाब और हरियाणा में है। ट्रैक्टर तो किसान खरीदता है न, वह तो अंग्रेज़ी का अखबार नहीं पढ़ता है तो यदि उसको कोई ट्रैक्टर खरीदना होगा, कोई ट्रक खरीदना होगा तो विज्ञापन तो वह हिन्दी के अखबार में ही देखेगा या पंजाबी के अखबार *पंजाब केसरी* में देखेगा। तो आपको मैं अभी हिन्दुस्तान का जो विज्ञापन का रेट है, उससे आधे रेट में विज्ञापन देने की अनुमति देता हूं आप दो महीने के बाद मुझे बताइए कि उसमें रेसपोंस क्या रहा। लोगों ने कहा साहब कमाल हो गया, यह तो बिकने लगा, ट्रैक्टर लोग खरीदने लगे, ट्रक लोग खरीदने लगे। मैने कहा कि उसी तरह से दूसरे 'कंज्यूमर आइटम' भी खरीदेंगे, आप दैनिक *हिन्दुस्तान* में विज्ञापन तो दीजिए, और लोगों ने देना शुरू किया।

तो सवाल मानसिकता का है। मैं जब आया था तो मुझे कहा गया कि *माया, मनोरमा* की कई लाख कापियां बिकती हैं। और *आनंद बाज़ार पत्रिका* की बंगाली में कई लाख प्रतियां बिकती हैं। उन दिनों दो ही अखबार थे, दैनिक *हिन्दुस्तान* और *नवभारत टाइम्स*, लाख दो लाख से ज्यादा नहीं बिकता।

बिहार एक बहुत गरीब राज्य है, केजरीवालजी भी बिहार के हैं, मैं आपका ज्यादा वक्त नहीं लूंगा, लेकिन बिहार में एक बड़ी अजीब चीज है कि वहां लोग अखबार बहुत पढ़ते हैं। एक पत्रिका पहले बहुत निकला करती थी टाइम्स ग्रुप

से *दिनमान*, उसकी सबसे ज्यादा प्रतियां बिहार में बिकती थीं। और आश्चर्य था, गरीब लोग कैसे खरीदते थे। वह खाना कम खाएंगे, कपड़ा कम पहनेंगे, लेकिन अपने को इनफार्म जरूर रखेंगे और इसी को ध्यान में रखते हुए *हिन्दुस्तान टाइम्स* ने बिहार से दैनिक *हिन्दुस्तान* निकालना शुरू किया। पहले पटना से निकाला, फिर रांची से निकाला, फिर भागलपुर से निकाला, फिर मुज्जफरपुर से निकाला, आज पांच लाख से ज्यादा कापियां वहां बिक रहीं है और हम लोग जो अखबार की दुनिया में थे या रहे थे, वे जानते हैं कि देहातों मे एक -एक अखबार की प्रति पूरा गांव पढ़ जाता है, चाहे पांच-छ दिन पुराना हो, 50 लोग पढ़ जाते हैं और उस पर चर्चा करते हैं। यह एक अदभुत चीज है जो दिल्ली में बैठे हुए लोग नहीं समझ सकते। इसका कारण यह है कि सभी अखबार चाहे *हिन्दुस्तान* हो, *नवभारत टाइम्स* हो या *पंजाब केसरी* हो या *जागरण* हो, चाहे *अमर उजाला* हो या इंदौर से निकलने वाला *नई दुनिया* हो, सब की संपादकीय क्वालिटी बहुत बढ़ गई है। अब अच्छे लोग जो अंगेजी में लिखते थे, खुशवंत सिंह जो अंग्रेज़ी में लिखते थे चाहे ट्रांसलेशन करके वे हिन्दी के सारे अखबारों में आते हैं। कुलदीप नैयर जो अंग्रेज़ी में लिखते थे, अब सारे हिन्दी के अखबारों में आते हैं और मांग करते हैं हिन्दी के अखबारों में लिखने के लिए।

तो देश बदल रहा है, ऐसा नहीं है कि देश नहीं बदल रहा, देश बदल रहा है। खासकर हिन्दी प्रदेश के लोगों में जागरूकता आई है और हिन्दी के प्रति अपनापन बढ़ा है आवश्यकता है हमारे आपके जैसे लोग जो दिल्ली में बैठे हुए हैं उनका मार्गदर्शन करें। मैं आपको बता दूं पहले जब *हिन्दुस्तान टाइम्स* में था, कभी किसी ब्युरोक्रेट के घर चला जाता था और उसकी पत्नी चाहे ड्राइंग रूम में हिन्दी का अखबार पढ़ती थी तो वो सज्जन 'इनफीरिअरिटी कंप्लेक्स' से सफर करने लगते थे, हीन भावना से कहते थे, मेरा ड्राइवर यह हिन्दी का अखबार छोड़ गया है, कैसा ड्राइवर है। आज मैं ब्यूरोक्रेट, राजनेता, प्रोफेसर, सब के घर पर हिन्दी का अखबार देखता हूं और बड़े प्यार से लोग पढ़ते है, जैसे बंगाल में लोग बंगला अखबार पढ़ते हैं। इसलिए हिन्दी के लोगों को हीन भावना से ग्रासित होने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है इस पर जोर दीजिए। केवल यही निवेदन है कि हिन्दी को क्लिष्ट नहीं बनाइए। किसी भी भाषा का इतिहास आप देख लीजिए, वह भाषा मर गई, जिसमें कि लोगों ने

जबरदस्ती कठिन शब्दों को घुसाया। भाषा वही चलेगी जो टी वी पर चलती है, जो 'करोड़पति' की भाषा है, जो 'सास बहू' की भाषा है, 'कहानी घर घर' की है, वही भाषा चलेगी, चाहे हम इसको मानें या नहीं मानें। समय बदल रहा है, महात्मा गांधी ने जो आंदोलन किया हिन्दुस्तान में वह हिन्दुस्तानी कहा या हिन्दी कहा या जो कुछ कहा, या *हरिजन* में जो लिखा, वह आम बोलचाल की भाषा थी। प्रेमचन्द इतने बड़े हुए, इसलिए कि आम बोलचाल की भाषा बोलते थे। इसी मकान में जवाहरलाल नेहरू रहते थे जब हिन्दी में बोलते थे तो कहा जाता है कि वे अंग्रेज़ी के विद्वान थे लेकिन वे हिन्दी में भाषण करते थे तो आम बोलचाल की भाषा में करते थे। हिन्दी को आप बोलचाल की भाषा बनाइए देखिए हिन्दी कहां से कहां चली जाएगी हिन्दी आगे बढ़ रही है। यह बात केजरीवालजी ने ठीक कही, ये प्रकाशक लोग जो है, ये ईमानदार नहीं है, ये आपकी किताब का दूसरा एडीशन छाप देंगे और कहेंगे किताब बिक ही नहीं रही है साहब आप ले जाइए। मैं भी लिखता हूं, जो दे दो ठीक है, नहीं दो तो भी ठीक है, छाप दिया यही बहुत है, लेकिन यह बदलाव आ रहा है। मैं एक छोटी सी बात कह कर बात खत्म करना चाहता हूं।

हिन्दुस्तान टाइम्स से, एक *कादंबिनी* पत्रिका निकलती है उसमें 7-8 साल पहले एक छोटी कहानी लिखी व्यगं कहानी थी, उसका नाम था 'दारोगा दरबारी लाल'। कंबोडिया में मुझे भारत सरकार का कलकत्ता में स्थित सूचना विभाग के डायरेक्टर कोई भट्टाचार्य थे, पता नहीं कहां से मेरा टेलीफोन नंबर लिया वहां फोन किया और कहा कि 'दारोगा दरबारी लाल' पर वे एक फीचर फिल्म बनाना चाहते हैं। मैने कहा साहब मै तो वह कहानी भी भूल गया, क्या कहानी थी और कहानी पर आप फीचर फिल्म कैसे बनाएगें, उन्होने काह वह हमारी जवाबदेही है, आप इस पते पर फैक्स करके अपनी स्वीकृति दे दीजिए। मैंने दे दी, 10 दिन पहले मुझे उसका पत्र आया कि फिल्म बन गई है, लोगों ने पसंद की है। उस सज्ज़न ने उस समय कहा था कि साहब आपको मैं बहुत बड़ा 'आफर' दे रहा हूं, आप समझ नहीं रहे हैं। किसी भी हिन्दी राइटर को बंगाल में सम्मान नहीं मिलता है, बंगाल के उपन्यास, किताबों का हिन्दी में ट्रासंलेशन होता है, हिन्दी वालों का बंगला में नहीं होता है। आप केवल हां कह दीजिए। इसलिए मैं कह रहा हूं परिवर्तन आ रहा है।

एक और निवेदन करना चाहता हूं, मैं कई देशों में राजदूत रहा, वैसे भी बहुत जगह घूमा, हमारे जो पदाधिकारी जाते हैं, वे यहां से जो किताबें जाती हैं, बहुत अच्छी-अच्छी किताबें जाती हैं, उसको बक्से में बंद कर देते हैं। वहां रहने वाले भारतीय है, लालायित रहते हैं पढ़ने के लिए लेकिन हमारे पदाधिकारी उनको डांट कर भगा देते हैं कि नहीं-नहीं हमारे पास किताब नहीं है। आप थोड़ी सी हमदर्दी हिन्दी के प्रति दिखाइए लोगों को, हरेक दूतावास में 'रीडिंग रूम' है, वहीं पढ़ने दीजिए, देखिए लोग कितने संतुष्ट होते हैं।

अंत में मैं कहूंगा कि यह एक बहुत ही सार्थक गोष्ठी हुई। मैं डा. केजरीवालजी को हृदय से बधाई देता हूं, धन्यवाद देता हूं कि इन्होने एक बहुत अच्छा काम किया। अंत में हम सब इस उम्मीद के साथ जाएं कि हम हिन्दी को आगे बढाने में जी जान से मदद करेंगे और यह मान कर चलें कि हिन्दी का किसी दूसरी भाषा से मुकाबला नहीं है, अंग्रेज़ी भी आगे बढ़े, हिन्दी भी आगे बढ़े हम तो इसी में विश्वास करते हैं, धन्यवाद।

लेखक परिचय

कृष्ण कुमार : प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

लाल बहादुर वर्मा : प्रसिद्ध इतिहासकार

रजत शर्मा : प्रसिद्ध पत्रकार

आलोक मेहता : संपादक, *दैनिक भास्कर*

मधुकर उपाध्याय : संपादक, *भाषा*

आनन्द कुमार : प्रध्यापक, समाज शास्त्र विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पंकज बिष्ट : प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा संपादक, *समयांतर*

हेमन्त दरबारी : ग्रुप कोआर्डिनेटर, सेन्टर फॉर डेवलपमेंट आफ एडवांस कम्प्यूटिंग, पुणे

विजय कुमार गुप्त : महाप्रबंधक (हिन्दी), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, मुंबई

राजेश्वर गंगवार : महाप्रबंधक, भारतीय रिज़र्व बैंक, मुंबई

विमलेश कांति वर्मा : भाषा वैज्ञानिक, रीडर, पी.जी. डी.ए.वी. कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

तेजी सकाता : प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, तकुशोकू विश्वविद्यालय तोक्यो, जापान

असगर वजाहत : प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली